2359

शास्त्रविशारद् न्यायाभोनिधि
श्रीमज्जैनाचार्य

श्रीबालचंद्र सुरीश्वरजी महाराज.

(काशीनिवासी).

सुदर्शन प्रेस अहमदनगर.

वक्तव्य

मनुष्यमात्रको अपने २ स्वतंत्र विचारोंको जगतके सामने रखनेका स्वयंसिद्ध अधिकार रहा हुवा है, किन्तु यह किसीको अधिकार नही है, कि अपने अभिप्रेत अर्थके पुष्ठयर्थ आप्त पूर्व महर्षियोंके प्रणीत आगम सूत्रोंके भावार्थ को किंवा सूत्रमें से कुच्छ अंश परिवर्तन करके या उसीमें कमती बढती कर ग्रंथकर्ताके आशयको पददलित कर देना, या एक नवीन ही अर्थकी सृष्टि उत्पन्न कर सत्पुरुषोंके नामपर संसारको धोखेमें डालना यह कृत्य वास्तविकमें व्यवहारमें भी विरुद्ध है, और धार्मिक दृष्टिसे तो महान् पापही है, किंबहुना. वस्तुस्थितिको यथार्थ में प्रतिपादन करनेवालाही मनुष्य अपने कल्याण के साथ जगतकाभी कल्याण कर सकता हैं.

प्राचीन साहित्यको विकृत करनेसे भविष्यमें जिज्ञासु पुरुषोंको "वस्तुस्थिति का यथार्थ मे परिज्ञान होना" दुष्कर हो पडता है, और ग्रंथकर्ता का वास्तविकमें क्या आषयथा यहभी जानना अति दुर्गम हो जाता है, दुराग्रह साहित्यको विकृत करनेवाले केवल आपना ही नाश नही करते किन्तु कालांतरमें संसारको महान् धोखे मे डालने के लिये एक महान् साधन कर जाते हैं,

पाठकों को विदितही होगा कि हालहीमें दाक्षिण हैदराबाद निवासी श्रीयुत लाला सुखदेवसहायजी ज्वाला प्रसादजीने स्था० मुनिश्री अमोलख ऋषिजी मे ३२ सूत्रों-का हिन्दी अनुवाद कराय के स्था० जैन संघको अमूल्य भेट देनेके आषय से प्रकाशित कराये है. मुनिजीने मता_ग्रहवश सूत्रोंमे आनेवाले जहां तहां जिनप्रतिमा सम्बन्धी सूत्रपाठोंके भावार्थ को परिवर्तन करनेके लिये एवंच जहां तहां सूत्रपाठमें भी कमती बढती करके अर्थका अनर्थ किया है. एवंच सूत्र और टीका, चूर्णि वगैरहमें कीये हुवे वास्त-विक अर्थकी उपेक्षा कर एक नवीन ही असंबध्ध पूर्वापर पाठके साथभी जिस अर्थकी संगति नही हो सकति ऐसे अर्थकी सृष्टि उत्पन्न कर आपने अपनी स्वतंत्र नीचे मन कल्पित टिपणी की है, जिसमें केवल आत्माको बहुल कर्मी बनानेके और उसमें कुच्छभी तथ्यांश नही है! यह कृत्य करना वास्तविक में मुनिमहाशयको उचित नहीं था!

जिज्ञासु पाठकोंके लिये इसी विषयकी समालोचना इस लघु पुस्तकमें की गई है. पाठकगण एकवार मध्यस्थ होकर इसको आद्यन्त अवश्य पढे, और मनन करें, उसमेंसे क्षीर नीरवत् यथार्थ में जो निष्कर्श निकले उसीको स्वीकार करना उचित है, क्यों कि जैन संघ किसी एक व्यक्तिका

नही है किन्तु तीर्थंकर भगवंतों की आणाका आराधन करनेवाला है. अतएव जिनराजकी आज्ञा में ही जैन धर्म है, और हम अपने को "जैन" कहलाने के योग्यभी तबही होसकते है. किंबहुना यह लेख ईर्षा या मताग्रह के विवश हो नही लिखा गया हैं किन्तु सत्य क्या है यही बतानेके लिये यह प्रयत्न हैं. जिससे भविष्यमें जिज्ञासु पुरुषों के लिये धोखा न हो और सर्व साधारणभी आगम के वास्तविक अर्थसे परिचित हो यही इसमें हेतु हैं.

इस पुस्तक को सुश्रावक शा. कनीरामजी जुगराजजी कटारिया मारवाडमे रूणवालों (हाल मुकाम बल्लारी) ने आर्थिक सहाय देकर जैनसंघको भेट देनेके लिये प्रकाशित कराया है. एतदर्थ आप परम धन्यवादके पात्र है, किंबहुना:—

निवेदक

काशीनिवासी

शास्त्रविशारद श्रीमद्विद्. मंडलाचार्य श्री नेमिचन्द्रसुरीश्वर चरणोपासके

यति हीराचंद्र.

इस पुस्तक के विषयमें शान्तमूर्ति पूज्यपाद मुनिश्री १००८ श्री राजविजयजी महाराज श्रीने अपना निम्न

लिखित अभिप्राय दिया है. पाठकों के जानने के लिये अक्षरशः नीचे प्रकाशित करदिया गया है.

बेजवाडा ता० १३।४।२५

अनेक उपमा युक्त श्रीयुत विद्यालंकार पं. यतिश्री हीराचंद्रजीसे लिखि मुनि राजविजय आदि ठाणे ३ की तरफसे शाता बहोत कर वांच. आपके तरफसे ३२ सूत्रोंकी समालोचना आज वांचकर पूर्ण करी है. इस समालोचनाके लिखनेमें आपने बहोत कुच्छ परिश्रम उठाया है इतनी समालोचना लिखने में बहोत सूत्रोंका वांचन किया गया है यह मे कबूल करता हुं, क्योंकि समालोचना वांचनेसे समजा जाताहै कि पुरी तोरसे विना वाचे आदमी इतना सार लिख नहीं सकता! आपने जितने सूत्रोंका उल्लेख समालोचन, किया है वह उमदा तोरसे आपने पठनकर समालोचन, किया है. आपका लेखन क्रम और भाषा शैली बहोतही रसिक और हृदयंगम होने लायक है जो कि पढनेवालेकुं सुगमतासे समजनेमें आसकता है. एतदर्थे आपको धन्यवाद है. किंबहुना.

भवदीय

मुनि राजविजयः

प्रस्तावना.

प्रस्तुत पुस्तक की प्रस्तावना लिखनेके लिये मुझे महाराज साहेब ने आज्ञा की. जैन शास्त्रोंद्वारा महाराज साहेब ने मूर्तीपूजा सिद्ध कर दी है, औरभी प्रमाण के लिये जिस अद्वितीय ज्ञानी महानुभाव ने महात्मा गांधीजी की धार्मिक शंका दूर की, और तमाम हिंदुस्तानके शास्त्रज्ञ लोकोंपर छाप बिठाई, वही श्रीमद् राजचंद्रजी के शब्द वाचकवर्गके आगे रखनेकी आज्ञा लेता हूं.

अपने "श्रीमद् राजचंद्र" ग्रंथके त्रितियावृत्तीके पृष्ट १७८ प्यारा १२ ओळ १० में लिखतें है.

केळवणी वगरनां लोकोमां स्वभाविक एक आ गुण रहेलो छे के, आपणा बाप दादा जे धर्मनें स्विकारता आव्याछे ते धर्ममांज आपणे प्रवर्त्तवुं जोईये; अने तेज मत सत्य होवो जाईये; तेमज आपणा गुरुना वचन परज आपणे विश्वास राखवो जोईये; पछे ते गुरु गमे तो शास्त्रना नाम पण जाणता न होय, पण तेज महाज्ञानी छे एम मानी प्रवर्तवुं जोइये; तेमज आपणे जे मानीये छीये तेज

वीतरागनो बोधेलो धर्म छे, बाकी जैन नामे प्रवर्ते छे ते मत सघळा असत् छे. आम तेमनी समजाण होवाथी बिचारा तेज मतमा मच्या रहे छे.

पृष्ट १८०.

(२) " हूं प्रथम प्रतिमा नहीं मानतो अने हवे मानुं छुं; तेमा पक्षपाती कारण नथी, पण मने तेनी सिद्धि जणाई तेथी मान्य राखुं छुं."

पृष्ट १७९ ओळ ३२

" मुख्य विवाद :— एकनु केहवुं प्रतिमानी सिद्धी माटे छे. बीजा :- तेने केवळ उत्थापे छे. बीजा भागमां प्रथम हुं पण गणायो हतो. मारी जिज्ञासा वीतराग देवनी आज्ञाना आराधक भर्णा छे एम सत्यताने खातर कही दई, दर्शावुं छुं के प्रथम पक्ष सत्य छे. एटले के जिन प्रतिमा अने तेनु पूजन शास्त्रोक्त, प्रमाणोक्त, अने अनुभवोक्त, अनुभवमा लेवा योग्य छे. "

पृष्ट १८१

टुंकामां पांच प्रकारना प्रमाणथी ते वात हुं सिद्ध करूं छुं. १ आगमप्रमाण २ इतिहासप्रमाण ३ परंपराप्रमाण

४ अनुभवप्रमाण ५ प्रमाण प्रमाण. यह शद्ब ऐसे कलमसे उतरें हैं की जिनकी तारीफ ख्रिस्ती, जरदूस्ती, हिंदु और इस्लामी नामवर पत्रक जैसे पायोनियर, मुंबई समाचार, (२० – एप्रील १९०१), इंडीयनस्पेक्टेटर, टाइम्स ऑफ इंडीया (२४ – १ – १८८५), गुजराथी, जामे जमशेद (२४-१ – १८८७), इत्यादिकोंनें अपने अग्रलेखोंद्वारा की है.

प्रतिमा पूजन के विषयमें आजसे चार हजार वर्ष पर्यंतका इतिहास येरोला, अंजिठा और तमाम हिंदुस्थानके सर्व जगेह की गुंफाएं, दिल्लीपति बादशाहोंकी दी हुई जागीरें साक्ष दे रही है.

दुनीया के तमाम मुख्य धर्म, प्रतिमा को अनन्य प्रकारसे मान देतें हैं. ख्रिस्ती चर्च ऑफ इंग्लंड (अपने हिन्दुस्थानके बादशहाके धर्मने) प्रतिमाकी स्थापना अपने गिरजाघरमें कीहै. हजरत महमद पैगंबर के तुरबतके गुमजपर तोफ चलनेके खबरसे तमाम इस्लामी जगत भडक चठा था.

बुतपरस्ती के सिवा मदीने मे क्या होता है
सच अगर पूछो तो बुतोमेंभी खुदा है.

यह वाक्य नामवर मौलवीनें लिख रखा है.

यह बातें हुई अन्यधर्मियोकी के जिनके धर्ममें प्रतिमाका उत्थापन साफ साफ किया है, तथापि वो मान्य करते है. परंतु बडी आफसोसकी बात है कि जिस जैन धर्मनें प्रतिमा पूजन आपके शास्त्रद्वारा साफ साफ बतलाया है उसी धर्मके श्रीवीर प्रभुके पुत्र, उसमें शंका लाकर पापके अधिकारी होतें है.

अहमदनगर. लालचंद मुथा.

जिन प्रतिमा सिद्धिः

अर्थात्

" बत्तीस सूत्रों में से कुच्छ आवश्यकीय "
" विषय की समालोचना "

भावोल्लास विधायिनी सुभविनां या दर्शनात्पूजनात्
पापौघप्रविणाशिनी विदधती ध्यानाच्छुभा भावना ।
या श्री कल्पलतेव वांछित महाकामप्रदा प्राणिनां
सा वीरप्रतिमा सदा विजयदा भूयान्नवीनेऽब्दके ॥

यह निर्विवादपूर्वक सिद्ध हो चुका है कि भारतमें मुसलमानी साम्राज्यके पूर्वकालमें सबही भारत वर्षीय प्रजा मूर्तिपूजक थी. क्या जैन, क्या बौद्ध और क्या सनातनी. सबही अपने अपने इष्ट देवोंकी उपासना करनेके लिये प्रत्येक नगर और ग्रामोंमें अनेक मंदिरोंका निर्माण करके अपने आराध्य देवोंकी प्रतिमायें बडे आडंबरके साथ विराजमान करते थे, और आजकलभी करते हैं. किंबहुना प्राचीन कालसेही मूर्तियोंके विषयमें और मंदिरोके निर्माण

करनेमें अगणित द्रव्यका व्यय होता हुवा आया हैं. और आजभी हो रहा है. वस्तुत: यह प्रथा केवल रूढिमात्र ही नही है किन्तु इसमें महान् रहस्यभी भरा हुवा है. प्रथम मूर्तिको देखनेंसे ही मालूम हो सकता है, के यह साधु थे कि गृहस्थ? इनका विकारी जीवनथा, या निर्विकारी? संसारमें मग्न थे, या उससे उपरत थे? इत्यादि.

यदि जिज्ञासु उनके जीवन चरित्रको एवंच उनके उपदेशमय आगम सूत्रोंके परिशीलन करनेमें औरभी कुछ परिश्रम करे तो मालुम हो सकता है के, यह सर्वज्ञ थे या च्छदमस्थ. जिससे स्वयमेवही दर्शकके मनमे अपनी जीवन दशाको सुधारनेके भाव उदित होजाते है. और क्रमशः उसके लिये प्रयत्नभी करता रहता है. वस्तुस्थितिका यथार्थमें वर्णन करनेपरभी जनतापर जैसा प्रभाव नही पड सकता, उससे कहीं अधिक आदर्श दृश्योंसे प्रभाव पडता है, इतनाही नही किन्तु उसका प्रभाव आबालवृद्धतक, मूर्ख हो या विद्वान हो कोई हो सबहीपर पडता है. विद्याशाला-ओंमें शिक्षकके बहोत समजाने परभी जब बालकोंके समजमें नही आता, तब उसीको शिक्षक चित्रपट (Map) द्वारा आसानीसे समजा सकता है. सिनेमा क्या है. यहभी दृश्यों-काही प्रभाव है. उन्हका दर्शक गणपर कितनी भारी असर

होती हैकि नतो वो चित्र गाते है और न बोलते है. तथापि सब लोग उनको देखदेखकर हंस पडते हैं. और कभी रो पडते हैं. यह लोगोंके मनको आन्दोलित करनेमे कितनी जबरदस्त चित्रोमें शक्ति रही हुई है. स्त्रीके दृश्योंको देखतेके साथ मनुष्यका मन जैसे सविकारी होना प्रारंभ होता है, वैसेही ध्यानस्थ वीतराग महामुनिके दृश्यसे (प्रतिमासे) जीवोंका निर्विकारी एवंच परम शान्त मन हो जाता है. इसी हेतुसेहि दशवैकालिक सूत्रमें महामुनियोंके लिये आज्ञा दी है के "इत्थी चित्त भित्तिन निसेविज्जं" जिस उपाश्रयमें स्त्रीयोंके चित्र हो, या भितोंपर स्त्रीयोंके चित्र मंडे हो, उस उपाश्रयमें कभी मत ठहरो. ये सब कारण मोह वासना के है. जब मुनियोंके प्रशांत मनकोभी स्त्रीयोंके चित्रपट विक्षोभ करनेमे समर्थ हैं तब निर्विकारी जिनेन्द्र भगवानकी-प्रशांत प्रतिमा क्या प्राणियोंके मनको निर्वेदपूर्वक उत्तम उत्तम भावनाओंकी उत्पत्तिमें कारणभूत नही है? अर्थात् हैही. इतनाही नही - किन्तु कितने ही दर्शकोकी, सांसारिक प्रवृति-योंमेभी क्रमशः फरक पडने लग जाता है. और मनमें भी यही भावना दृढ होने लगती, के हे जीव? तूं इस दुष्पाप्य मनुष्यजन्मको पाकरभी अपनी आत्माका जब उद्धार न कर सका, तो अब फिर किस योनिमें जाकर करेगा! केवल तेने

अपने पुण्यमय दिनोंको पशुवत् निरर्थकही खोदिए! धन्य वे महा पुरुष थे कि जिन्होंने भर युवावस्थामेंही सांसारिक वासनाओंसे विरक्त होकर सदाके लिये अपने जन्म जरा मरणादि महा दुःखोंको समूलसे उन्मूलन किया. और जबतक इस नश्वर संसार में रहे तबतक प्रतिक्षण जगतके उपकारार्थ ही इस पृथ्वीतलपर विचरते हुवे अपने अमूल्य दिनोंका सदुपयोग कर भविष्यमेंभी जिन्हका आदर्श जीवनचरित्र प्राणिमात्रके उद्धारमेंही कारणीभूत बना रहा. अन्तमें उन्ही महापुरुषोंने किसी गिरश्रृंगपर जाकर शररिपरभी निर्ममत्व हो एकान्त ध्यानस्थ वृतिमे निर्वाण-पदको प्राप्त हूवे. जिन्हके चरणारविन्दोंसे स्पर्शित भूमि आजभी जगतमें तीर्थभूत हो रही हैं. जहांपर आजभी महापुरुषोंके स्मरण करानेवाले अनेक शिखरबद्ध मंदीर बने हूवे हैं. जिन्होमें उन्ही पूज्य महापुरुषोंकी प्रतिमायें विराजमान क्या हैं, मानों आजभी संसारको सच्चे मुक्ति पथके रस्तेको बतला रही हैं. और अनेक जीव जिन्हके दर्शनोंसे तिर रहे हैं. "इस लिये ही कहा है कि " **जम्मं दिख्खानाणं तित्थयराणं महाणुभावाणं - जत्थय कय निव्वाणं अगाढं दंसणं होई** (१) अर्थात् जहां तिर्थंकर भगवंतोके चवन जन्म दिक्षा केवल ओर निवार्ण कल्याणक भये हूवे हैं

उसी स्थलको तीर्थ कहते हैं और वहां जाने से भव्य प्राणियो को सम्यक्त्व की भी प्राप्ति होती हैं"

ये सब भावनाए निर्विकारी वीतराग प्रभुकी दिव्य प्रतिमाके दर्शनसे ही उदित होती हैं. क्यों कि इस संसारमें पूज्य तीर्थंकर भगवंतोंसे बढकर कोई अद्वितीय पुरुष ही नही हुए. जिससे तिर्थंकर भगवंतोके आलौकिक दिव्य जीवन चरित्र एवंच उनके सदुपदेश मुनियों कोभी शिक्षा के लिये प्रधान कारणभूत है. अहा हा! धन्य है, उस वीतरागकी मन मोहनी मूर्तिको, क्या अपूर्व मुखारविंदपर शान्ति झलक रही है. न तो राग के चिन्ह कोई स्त्री पुत्रादी ही है और न द्वेषके चिन्ह शस्त्रादि ही दिखाई दे रहे हैं. किन्तु एकान्त परमानिस्संगी ध्यानस्थ प्रभु प्रतिमाको देख किस भव्यात्माकी अन्तरात्मा संसारसे विमुख होनेके लिए उत्सुक न होगी? इस लिये वीतराग भगवान्की मूर्ति ही प्रत्येक आत्माके लिये परम उपकारी रही हुई हैं.

इस विषय में पूज्य हेमचंद्राचार्य महाराज भी फर्माते हैं कि—

सर्वज्ञो जितरागादि-दोषस्त्रैलोक्य पूजितः
यथास्थितार्थवादीच-देवोऽर्हन् परमेश्वरः (१)
ध्यातव्योऽयमुपास्योऽयं शरणमिष्यताम्
अस्यैव प्रतिपत्तव्यं शासनं चेतनाऽस्तिचेत (२)

ये स्त्रीशस्त्राक्षसूत्रादिरागाद्यंककलंकिता ः
निग्रहानुग्रहपरास्तेदेवा ः स्यु र्न मुक्तये (३)
(योगशास्त्रे.]

किंबहुना बालजिवोंके लिये तो अनन्य उपकारी है. क्यों कि आजकलके श्रावक गणभी प्राय ः धार्मिक ज्ञानसे शून्यही है. तथापि उन्हके उद्धारके लिये जिन प्रतिमा का आलंबनही बहोत है. अरे! आजकल के मुनियोंकोभी जब निरालंवन ध्यान होना दुष्कर है तब अल्पज्ञ गृहस्थों का तो क्या कहना! और बिगर आत्मज्ञानकी तरफ झुके जीवोंको निरालंबन ध्यानभी होता नही. इससे ही श्रावक गण को निरालंबन ध्यान कठिन ही नहीं है किन्तु असंभव भी है. ठीक ही आत्मानुभवी पुरुषोंनेभी कहा है कि "साकारी विण ध्यान न संभवे" "आकारके बिगर ध्यानकी संभावना ही व्यर्थ है." अर्थात् ध्यानका प्रारंभभी किसी आकार विशेष को आलंबन करके ही होता है. जिससे ज्ञानी पुरुषों ने भी वीतराग की प्रतिमाही को प्रथम योगकी मूल भूमिका बतलाई है. शुभ योगमें चित्तवृतिकी स्थिरताका नामही योग है. और जिन प्रतिमाको लक्षमे लेनेसेही चित्तवृत्तिकी स्थिरता होती हैं. तीर्थंकर भगवंतोंकी प्रतिमायं केवळ मनुष्यों के लिये ही उपयोगी हैं एसा नहीं किन्तु तिर्यंचो के लिये भी महान् उपकारी हैं. आगम सूत्रोंमें यह

विषय स्पष्टरीत्या प्रतिपादन किया गया है कि समुद्रोंमें चूडि और केलु इन दोके आकार को छोडकर सबही आकारके मत्स्य होते हैं. कोई जीव देश विरति या सर्व विरतिसंयमकी विराधनाके कारण मत्स्ययोनिमें जाकर उत्पन्न हुवा, वहां उस जीवको पुनः धर्मप्राप्तिका साधन पूज्य तीर्थंकर भगवंतोने यह बतलाया है कि कहीं उसको जिन प्रतिमाके आकारवाले मत्स्यदिंखाई पडे और उसका लक्ष कहीं उसकी विशेष स्थितिपर पहुचे तो उसी आकारके साथ आसन्न संबंध रहनेसे तुरंत उस आकारके विषयमें नानाविध विचार तरंगोंमें झुलने लगता हैं और यही विचारता है कि इस आकारको कहीं मेंनें जरूर देखा है, कब देखा? किस स्थितिमें इत्यादि ईहापोह करते करते मूर्च्छा उत्पन्न हो जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न होता है, ओर अपने पूर्व भवोंको देख अपनी अद्यः स्थितिपर महान् पश्चाताप करने लगता हैं कि में किस उन्नत स्थितीपर था और आज किस अधम योनिमें मेरी उत्पत्ति भई. अहाहा! क्या विचित्र कर्मकी गति है! इत्यादि संसार स्वरूप को बिचारते हुवे आत्मा निर्वेद-पूर्वक संवेग रंगमे झीलने लगती हैं. जिससे अंतमे वही देशबिरती श्रावक धर्मको अंगीकारकर अपनी आत्माका उद्धार करलेता हैं. इससे जलचरजीवोंकोभी धर्मप्राप्तीमे जिनप्रतिमा कितनी उपयोगी है तब मनुष्योंके लिये उपयोगी

हो इसमे आश्चर्य हीं क्या है यही महात्मा पुरुषभी फर्मागये है :—

जिन प्रतिमा आकारे जलचर च्छे बहु जलधी मझार
ते देखी बहुला मच्छादिक पाम्या विरतिप्रकार —
रे भविका, श्री.

एवंच बिगर केवली के अरूपि आत्मा को देखही कौन सकता हैं? जिस वस्तुका अनुभव ही नही हुवा और जबतक उसका हमको कुच्छ आकार ही मालुम न हुवा तबतक सहसा अरूपी आत्माको लक्षमें ही कैसे ले सकते है? और उसका ध्यानभी कैसे कर सकते हैं? आत्मसाक्षात्कार के लिये प्रथम ध्यानकोही प्रधान कारण बतलाया है. उन्हमेंभी प्रथम साकार ही ध्यान किया जाता है जिसकोकी, पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ ध्यान कहते हैं. अन्तमें रूपातीत ध्यान होता है, तबही आत्मा अध्यात्मी बनती है और अध्यात्म के लक्षण भी यह है :—

गतमोहाधिकारीणामात्मानमधिकृत्य या
प्रवर्तते क्रिया शुद्धौ तदध्यात्म विदुर्जिनाः (१)

किंबहुना भव्यप्राणियों का उपकारभी तीर्थंकर भगवन्तोने शरीरद्वाराही किया है जब स्वयं भगवंत विचरते थे उस समयभी सबही ने उन्हके शरीरकाही दर्शन किया था किन्तु उनकी परमात्मास्थितिके दर्शन तो केवलीही

कर सके. तथापि आत्मा और शरीरके कथंचित् भिन्नाभिन्न होनेसे भव्यप्राणी उनके शरीरके दर्शनसेही उनकी ऐश्वर्यवान् आत्माकाही दर्शन हुवा समझते थे. और तर्थिकर भगवंतभी जीवोंको सशरीरी भावमे ही दर्शन देनेको समर्थ थे. अशरीरी होनेपर तीर्थंकरोनें न तो किसीका उपकारही किया और न किसीको दर्शनही दे सके. इससे भगवंतोका शरीर क्या था. वह भी प्रधान औदारिक पुद्गलोंका एक पिंड ही था जिसमें ज्ञान, दर्शन, चारित्रके कोई गुण न रहनेपरभी ज्ञान दर्शन चारित्रवान् आत्माका आधारभूत होनेसे अभेदोपचारसे जिन सदृश समझकर ही तर्यिंकरभगवंतोके निर्वाणपदको प्राप्त होने पर उनका शरीर इन्द्रादि देवताओंको और मनुष्योंको वंदनीय, पूजनीय, और सत्कार करनेके योग्यही रहा. जिससेही "**जिन प्रतिमा जिनसारखी–कही सूत्रमझार**" यह स्पष्ट सिद्ध होता है. क्योंकी उनके अंतिमध्यानस्थ शरीरके प्रतिबिंबही का अनुकरण जिन प्रतिमा रही हूई है. भगवंतकी प्रतिमाभी उस अवस्थाको बोध करा रही है कि, जिससमय भगवान् जिस आसनसे या तो पद्मासनसे या कायोत्सर्ग अवस्थामें निवार्ण पधारे थे. जिस समय उनकी आत्मा पूर्ण कृतकृत्य हो चुकी थी. और स्थानांगसूत्रके चतूर्थ गणेमें भगवंतने चार प्रकारके सत्य कहे है

चउव्विहे सच्चे पन्नत्ते तंजहा –" णामसच्चे ठवणासच्चे दव्वसच्चे भावसच्चे" इससे स्थापना भी सत्य मानी गई है. तसबरीको देख जैसे अपने पूर्वजोंका स्मरण होआता है वैसेही प्रतिमाको देख तीर्थंकर भगवंतोका स्मरण होता है. फोटो-एक रंगोंका समुदाय होनेपरभी दर्शकको रंगका ज्ञान न कराके सहसा एक विशेष व्यक्तिका बोध कराती है. वैसेही जिनप्रतिमा पाषाणकी होनेपरभी उन्ही पूज्य तीर्थंकरोकाही ज्ञान कराती है. किन्तु पाषाणका नही, और भव्य प्राणिभी तिर्थंकरोंको उद्देश करकेही स्तवन करते है जैसे "नमोत्थूणं अरिहंताणं भगवंताणं" यदि पाषाणही समझते तो कभी उपरोक्त स्थितिजनक स्तुति नही करते. अस्तु–यह तो ऐतिहासिक दृष्टीसे या आगम सूत्रोंसे स्पष्ट सिद्ध हो चुका है कि जिनप्रतिमाकी पद्धति आधुनिक नही है किन्तु प्राचीनही है. ऐतिहासिक पुरावोंमे मथुराके स्तूपोंमेंसे निकली हुई अनेक प्राचीन जिन प्रतिमाएं और उनके साथ निकले हुवे अनेक शिलालेख और आस्ट्रे-लिया राज्यमें हंगेरी प्रान्तके गुडापेस्ट नगरमें एक अंग्रेजके बागमें निकली हुई प्राचीन भगवान् महावीर प्रभुकी दिव्य मनमोहनी प्रतिमा. कर्नाटकमे प्रांत हेमकूट तिर्थका प्राचिनत्व इ० आदि अनेक प्रतिमाके विषयमें पुरावे हैं.

प्रत्येक प्राणियोंकी आत्मोन्नतिमें शास्त्रश्रवण, मनन, निदिध्यासन, दिव्य परमत्यागी वीतराग प्रभुकी मुर्तीके दर्शन, तद्विषयक चिंतवन, साधुसमागम, आदि यही उत्तमोत्तम साधन रहे हुवे हैं. इन्हीके द्वारा अनेक नष्टचरित्र प्राणीभी शुद्ध चारित्रवान् हुवे हैं. इससे भव्यजीवोंको जिनप्रतिमाही वस्तुतः वंदनीय, पूजनीय, और सत्कार करनेके योग्य हैं. किंबहुना दशमें अंगमें जिनपूजाके विषयमें स्पष्टरूपसे अहिंसाही बतलाई है. जिससे पूजामें हिंसाका विचारही करना व्यर्थ है, क्योंकि "आणाओ धम्मं" आज्ञामें ही धर्म है. जैसे ठाणांग सूत्रमें चारित्रकी क्रिया आत्माके लिये हित, सुख, क्षमा, और मोक्षके लिये कही हैं वैसे ही रायपसेणीजी और जीवाभिगमजी में जिन पूजाभी हित, सुख, क्षमा और मोक्षके लिये कही हुई है.

जिनपूजाके विषयमें कई सूत्रोंमें अनेक उदाहरण मिल रहे हैं देखो रायपसेणीजीमें सूर्याभदेवका, जीवाभिगमजीमें विजयदेवका, ज्ञाताजीमें महासती श्राविका द्रौपदीजीका, उपासकदशांगसूत्रमें आनंद श्रावक का (केवळ जिनराजकी प्रतिमाका ही वंदन पूजन नमस्कार करने का अभिग्रह करना) स्थानांगसूत्रके चतुर्थ ठाणेमें नंदीश्वर द्वीपका वर्णन, उसमें अंजनगिरीके उपर रहे हुवे सिद्धायतनों

(जिन मंदिरो) का, और ऋषभानन, चंद्रानन, वारीखेण, वर्धमान, इन शाश्वती जिनप्रतिमाओंका वर्णन, भगवतीजीमें जंघाचारण, विद्याचारण मुनियोंका नंदीश्वर द्वीपके जिन मंदिरोंकी यात्राको जाना, वहां शास्वती जिन प्रतिमाओंका वंदन नमस्कार करना, आदि अनेक उदाहरण रहे हुवे है. किंबहुना ज्ञानवंत स्थिविर आचार्यके अभावमें मुनियोंको जिन प्रतिमाके आगे प्रायश्चित अलोयण्णा लेनेका विधानभी सूत्रोंमें उल्लेख है. महा कल्पसूत्रमें तो यहां तक लिखा है कि यदि मुनि जिनप्रतिमाका दर्शन न करे तो उसको छट्टका प्रायश्चित आता है वैसे ही पौषहमे रहा हुवा श्रावक दर्शनको न जावे तो उसको भी वही प्रायश्चित आता है. उसमें दर्शन करनेका फल भगवंतनें ज्ञान, दर्शन चारित्र की प्राप्ति बतलाई है तद्यथा—**से भयवं तहारूवं समणं वा माहणं वा चेईय घरे गच्छेज्जा? हंता गोयमा! दिणे दिणे गच्छेज्जा से भयवं जत्थ दिणे नगच्छेज्जा तओ किं पायच्छित्तं हवेज्जा? गोयमा! पमायं पडुच्च तहारूवं समणं वा माहणं वा जो जिनघरं न गच्छेज्जा तओ छट्टं अहवा दुवालसमं पायच्छित्तं हवेज्जा से भयवं! समणोवासगस्स पोसह सालाए पोसहिए पोसह बंभयारी किं जिणहरं गच्छेज्जा? हंता गोयमा! गच्छेज्जा से भयवं केणट्ठेणं ग-**

च्छेज्जा.? गोयमा! णाण दंसण चरणठयाण गच्छेज्जा इत्यादि—ऐतहासिक दृष्टिसे देखा जाय तबभी पूर्वकालमें समग्र जैन संघ मूर्तिपूजक था जिससे मूर्तिका आवश्यक होना स्वयं सिद्ध हो रहा है यह निःसंदेह कह सकते है. क्यों कि जैन धर्मकी श्वेतांबर और दिगंबर यह दो शाखाही प्राचीन हैं जो कि वीर निर्वाण से ६०९ वर्ष में पृथक् होकर दो विभाग में जैन प्रजा विभक्त होगई, तथापि दोनोही संघने मूर्तिपूजाके महत्वको समझकर उसको सादर स्वीकारही किया है. वास्तविकमें दोनोका यह कर्तव्यभी था, क्यों कि पूज्य तिर्थंकरोंकी जितनीही भक्ति, या उनका बहुमान कीया जाय उतना ही थोडा है, कारण जिन्होंका धर्म है, जो धर्मके आदि प्रवर्तक हैं, जिन्हकी आज्ञामें ही धर्म रहा हुवा है, जिन्हके चरणारविन्दोकी अनेक अतिशय ज्ञानी मुनियोंने, इन्द्रादि देवोने, चक्रवर्तीआदि मनुष्योने, उपासना की थी उन्ही पूज्य भगवंतो की स्मारकभूत प्रतिमायें क्या वंदनीय पूजनीय नही हो सकती? इतने महत्वकी जिन प्रतिमा होनेपर भी काल दोषसे हमारे स्थानकवासी जैन भाई तत्वातत्व को न विचारकर केवळ मताग्रहके विवश होकर भगवंतकी प्रतिमा के दर्शन करनें तो दूर है. किन्तु समय समयपर अवज्ञा, या उनकी अवहीलना, या अवर्ण

वाद बोलने में भी नही चूकते! यह कितने दुःख का विषय है.

इससे केवल जिन प्रतिमा की ही अवज्ञा नही होती, किन्तु प्रतिमाके साथ नाम, स्थापना व्यवहारमेंभी जिन देवकी प्रतिमा, तथा उसकी उपासना करनेवालोकी भाव स्तवनादिसे भाव स्थापना आदि घनिष्ट तिर्थकरोंके साथ सम्बन्ध रहने से साक्षात् तीर्थंकरोंकी ही अवज्ञाका करना है. अरिहंतोंकी अवज्ञा करनेसे या अवर्णवादसे भगवंतने स्थानांगसूत्रके ५ में ठाणेंमें दुर्लभबोधीजीव होनेका कारण फर्माया हैं. मूर्तिके कट्टर विरोधियोंकी स्थितिपर जब हम लक्ष देते है तो उनकी विचित्र स्थितिको देख अपसोसभी होता है, कि एकतरफसे मूर्तीका विरोधभी करते है और एकतरफसे मंडनभी करते जाते हैं. उदाहरणमें कई गृहस्थोंके पास स्था. पूज्य मुनियोंके फोटोभी रहती है जिनका कि प्रतिदिन दर्शन वंदन नमस्कार करते रहते हैं, सुनते हैं कि पंजाबमे स्था. मुनिके चरणोंकिभी स्थापनाकी गई है. यह कितनी बुद्धिमानी है! शायद जिन-प्रतिमासेभी आजकलके छादमास्थिक मुनियोंकी फोटो विशेष महत्वकी मालूम पडी हो! वाहरे समय! जो तुंन दिखावे उतनाही थोडा है! आज तेरे ही प्रभावसे कितनेही जैनी अपने आराध्य जिनेन्द्र भगवंतोंकी प्रंतिमासेभी विरोध करने लगे हैं. जिसका परिणाम यह हुवा है कि कितनेही जैन

श्रावक अन्य देवोंको भजनमे लग गये हैं. देखो? दक्षिण देशमें कितनेही जैनीयोंका सतनोरायणकी कथाका करना, इठाबा की यात्राको जाना, ताबुतोमें संम्मिलित होना, इतनाही नही किन्तु जहां सरासर अनाथ पशुओंका बलिदान होता है जिस स्थलकी भूमि रक्त प्रवाहोंसे सदा सिंचन कीई जाती है ऐसे खंडाबा, बोल्हाइ आदि अनेक देवस्थानोंमें जाकर मानताका करना, उनकी यात्रायें करना, गनगोरको शिरपर लेकर झुंडके झुंड शहरमे निकलना, क्या यह जैन धर्मके विरुद्ध आचरण नही हैं? क्या यह सम्यक्त्वसे पतित होने के चिन्ह नही हे? इधर जिनेन्द्रभगवान्की सवारीको देखकर घरमे घुस जाना, या उसतरफ लक्ष्यभी नही देना यह क्या जैन धर्मावलंबी श्रावकोंके आचरण स्तुत्य हैं? क्या इसमें तीर्थंकरोंका या जैन शाषनका अविनय नही होता? इस अवज्ञासे क्या सम्यकत्वसें भ्रष्ट नही होते? अहा हा! कितने अपसोसका विषय है.

क्या जैन समाजके शुभ चिन्तकोंके मनमें इसविषय का कुच्छ ख्याल होगा? मेरा जहांतक ख्याल हैं मै जोरके साथ कह सकता हुं के इन सब कुप्रतियोंके प्रचारमें विशेष कर हमारे धर्मोपदेशकही कारणीभूत है. जिन्होने जिन प्रतिमाके दर्शन करनेका सर्वथा निषेध कर बहोतसे अंध श्रद्धालु

अज्ञानीजीवोंको पच्चख्खानतक दे दीये हैं! जिससे कितने ही जैनी अपने देवके स्वरूप तक को भी भूल गये हैं. संसारमें देव गुरु धर्म यही तत्त्व त्रय हैं इससे ही धर्मकी स्थिरता हो सकती है. जैन समाजमे धार्मिकज्ञानका प्रचार कम पडनेसे इधर जिनपूजाके विषयमें विरोध करते रहनेसे आज बहोतसी जैन प्रजा अन्य धर्मीके तुल्य हो रही हैं. अरे! जैनोमे ये सब कुप्रतियें क्यों! श्रीरत्नप्रभसूरिजी, श्रीजिनदत्तसूरि, श्रीहेमचंद्रसूरिजी आदि महान पूर्वाचार्योंके सतत परिश्रमसे जो अगणित जैनेतर प्रजा जैनधर्मी बनीथी वही आज पुन: अन्य धर्मीयोंके संस्कारोंसे अन्य धर्मी होती जा रही है यह देख क्या शाशनके शुभ चिन्तकोंके मनमें कुच्छ विचार होगा? आजकलके स्था. मुनीराज यह समझते होंगे कि हमने इतने लोगोंको मूर्तिके **दर्शन नहीं करनेका** पच्चख्खाण दे दिया इसीमे अपनेको धन्य मान्य समझकर स्वपक्षको पुष्ट हुवा समझते होंगे लेकिन तात्विक दृष्टिसे देखा जायतो वे विशेष कर अन्य धर्मीयोके संस्कारोंको दृढ कर जैन संस्कारोंका सर्वथा निकंदन कर रहे हैं. जिसमे कितनेही दिन बादवेभी उनके पक्षमे न रहकर एक अन्य ही पंथकेसाथ संबंध रहनेसे स्वधर्मसे सर्वथा च्युत हो जाते हैं.

इस विषयमें आज तीन पुरावा दिल्ली प्रांतके अग्रवालोंको देखो. इससे जिनराजके दर्शन क्या है कि प्रतिदिन उनके दर्शन व पूजन करते रहनेसे अपने धर्मसे च्युत भी नही होते और अपने आराध्य अरिहंतोंकी भक्तिभी सदा करते रहते है. मुनियोंके दर्शन, हमेशा होते नहीं. एक क्षेत्रमें मुनि सदा रहभी नही सकते, उनके पीछे उनके उपदेशोंसे शाशित प्रजाको धर्ममें दृढ रखनेके लिये जिनेन्द्रोंके दर्शन व पूजनही मुख्य साधन रहते है. इतने महत्वकी जिनप्रतिमा होनेपर भी न मालुम क्यों विरोध करते हैं! क्यों व्यर्थही जिनराजकी भक्तिमें अंतरायभूत बनते हैं? मैं यह भी कह सकता हुं कि इस विरोधमें इन लोगोंके पास कोई शास्त्रीय प्रमाण भी नहीं हैं. आजतक किसी स्थानकवासी मुनि या गृहस्थने यह किसी सूत्रमें से स्पष्ट नही बतला सके कि, अमूक सूत्रमें स्पष्ट श्रावकको जिन मूर्तिके दर्शन व पूजन करनेका सर्वथा निषेध किया है. और मुनियोंको भी वंदनीय व सत्कार करनेके योग्य नहीं है. एसा निषेध जनक वाक्य क्या० किसी सूत्रमें से अबभी निकालकर बतला सकेंगे? क्योंकि जिन प्रतिमाके विधायक सूत्र पाठ तो अनेक सूत्रोंमे दिखाई दे रहे है. बिगर प्रमाण के ही सनातनसे होती हुई जिनभक्तिको मन कल्पित

कल्पनायें करके अंतराय करना यह कौनसा मुनिधर्म है? किंबहुना आजकलके प्राय: मुनिगण जिनप्रतिमाके उत्थापन करनेमे ही अपनेको कृतकृत्य समझ रहे है. इतना ही नही किन्तु संसारसेभी न डर कर सूत्रोमें स्थान २ पर आनेवाले जिनप्रतिमा सम्बन्धी पाठोंको परिवर्तन कर देने में या उनका यथार्थ अर्थ नकर केवल मनकल्पित कल्पनाओंमे एक नवीन ही अर्थकी सृष्टि उत्पन्न कर सरासर संसारको भ्रमजालमें डालनेके लिये भी कम प्रयत्न नही करते हैं. जिससे स्वल्प दिनके जीवनमें अपनी आत्माको उत्सूत्र भाषण के महान् पापसे इतनी तो कलुषित एवं बहुल कर्मी बनालेते हैं कि जिसका फल जन्मान्तर में क्या भोगना पडेगा यह ज्ञानीही कह सकते है!

पाठकोंको विदित ही होगा कि हालही में दक्षिण हैदराबाद निवासी श्रीमान् लाला सुखदेवसहायजी ज्वालाप्रसादजी ने हिन्दी अनुवाद के साथ बत्तीस सूत्रों को प्रकाशित कराये हैं. सूत्रोंके नीचे हिन्दी अनुवाद के करनेवाले स्था० मुनि अमोलखऋषिजी है. इन सूत्रों में से कुच्छ सूत्र मेरेकोभी देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुवाथा. ये सब सूत्र केवल स्था० जैन संघको ही अमूल्य वितीर्ण करनेके आशयसे प्रकाशित कराये गये है. इन बत्तीस सूत्रोंके

हिन्दी अनुवादमें जिनप्रतिमाके विषयमें आते हुवे अनेक सूत्र पाठोंको अपनी स्वतंत्र नीचे टीका टिप्पनीयें करके सर्वथा सूत्र विरुद्ध उत्सूत्र भाषण कर जिनमूर्तीके उत्थापन करनेकेलिये कितनी चेष्टा कि गई हैं कि जिसको देख चित्त घबरा ऊठता है ! जिसमें सत्यका गला किसतरहसे घोटा गया है कि जिसको देख आश्चर्य ही नही किन्तु परम खेदभी होता है ! मुनिजीके ऐसे आचरण क्यों ? पाठकोंके समक्ष इन्ही सूत्रोंमेसे कुच्छ आवश्यकीय विषयके साथ जिनप्रतिमा सबंधी सूत्र पाठको उडानेके लिये मुनिमहाशयजीने अपने तर्क वितर्कोसे जो अपनी अज्ञानताका परिचय कराया है उसीकी समालोचना मध्यस्थ विद्वनोंके सामने रख रहा हुं. विद्वान् वर्ग मध्यस्थ होकर एकवार सूक्ष्म दृष्टिसे पढें और मनन करें कि इसमें मुनिमहाशयका लिखना कहां-तक सत्य है !

प्रत्येक सूत्रों के आदि पृष्ट पर श्रीयुत लाला सुख-देवसहायजी ज्वालाप्रसादजी की फोटोभी दी गई है. आप एक समय कट्टर मूर्तिपूजक थे, आपका बनवाया हुवा हैद्राबादमे चारकवानवाला जैन मंदिर भी है, आप संघमे एक आगेवान धार्मिक जैन सद्गृहस्थ है, आपका औदार्य गुण अवश्य श्लाघनीय है. तथापि थोडे दिनसे स्थान कवासी

मुनियोंके संसर्गसे आपमें जरूर कुच्छ अनुदारताके भाव प्रगट हो गये हैं कि आपके प्रकाशित सूत्र जिनप्रतिमाके परम भक्त सुश्रावकोंको या मुनियोंको दीये नही जाते हैं! शायद समालोचनाके भयसे न देते हों! जो कुछभीहो! किन्तु लाला-जीको यह उचित नही था! तथापि आपमें अनेक अन्य सद् गुणोंके रहनेसे आप ऐसे सज्जनोंकी सूत्रोंपर फोटो देना उचि-तभी है, क्यों कि एक जैनधर्मी दुसरे श्रीमंतका बहुमान क्या करना है वास्तविकमें उनकी शाशनपरत्वे भक्तिका बढाना ही है. किन्तु मूर्तिको नही माननेवालोंके लिये शायद यह प्रयास रुचिकर हो या न हो! यह संदेहही है. मेरे ध्यानसे तो लालाजीकी फोटो सामायकभाव में देनी उचित थी जिससे और भी उनकी धार्मिक द्रढता का परिचय होता. और सूत्रों परभी विशेष कर शोभ-नीय होती. फोटों मे-लालाजी गृहस्थ वेषमे एक खुरशीपर बेठे हुवे हैं और आपके पांवमे जूतेभी हैं. आगम सूत्रोंपर ऐसी फोटोके देनेसे ज्ञानकी आशातनाभी होती है! शायद स्थापना निक्षेपाको नहीं माननेवालोंके लिये न होती हो! यदि इनके साथ गणधर श्रीसुधर्मास्वामी और जंबुस्वामीकी भी फोटो देते तो क्या शोभनीय नही होता? जिससे सूत्र औरभी खिल ऊठते. और स्वाध्याय करनेवाले मुनियोंको

एवंच श्रावकोंको हमेशा महान् पुरुषोंके दर्शनके साथ सदा उनका संस्मरणभी होता रहता. क्योंकि उपकारी महापुरुषही वस्तुतः संसारके परममान्य होते है. किन्तु विशेषता तो यह है कि उन महान् पुरुषोंका कहीं नामोल्लेख या उनकी परिचय जनक भूमिका तकभी नही लिखी गई. प्रत्युत प्रत्येक सूत्रके प्रत्येक पृष्ठ पर अनुवादक मुनिमहाशयने अपनाही नाम वहभी " बालब्रम्हचारीके " टाईटलके साथ छपवाया हुवा है और एक तरफ प्रकाशक महाशयका है. यहभी एक नवीनही पद्धति है. शायद अपनी महत्ताके लालसासे, या स्वाध्याय करनेवाले मुनि या गृहस्थोंको मालुम कैसे हो ; इसके लिये शायद दिया गया हो. न मालुम सूत्रके यदि यही आद्य रचयिता होते तो संसारमें कितना ढिंढोरा पिटते. नियम तो यह है कि पुस्तकके आद्य पृष्ठपर अनुवादक का तथा प्रकाशकका या और जो कुच्छ भूमिका वगेरेमें लिखना हो वह लिख सकते हैं, किन्तु हरेक पृष्ट पर नाम देना यह कौनसी प्रशंसनीय पद्धति है. क्या यह मानका भांगा नही है ? या मानवंतभी मुनिधर्मके पालक हो सकते है ? ये सब मूल सूत्र ही छपे हुवे हैं, जिन्हके नीचे अक्षरार्थही अनुवाद किया गया है, और कहीं तो अक्षरार्थभी छोड दिया गया है ! कितनेही ठिकाने सूत्रके आशयसेभी विरुद्ध अनुवाद हो गया

है. वस्तुत: सूत्रों पर प्राचीन आचार्योंकी कीई हुई टीका, चूर्णि वगेरह से ही सूत्रोंका भावार्थ ठीक हृदयंगम हो सकता है. सूत्र केवल संक्षेपार्थहीकी सूचना करनेसे इसको सूत्र कहते हैं. सूचयति अर्थान् इतिसूत्रम्" प्राय: सबही संप्रदायके धार्मिक सूत्रोंपर भिन्नभिन्न आचार्योंके द्वारा की हुई अनेक टीका, टिप्पणियें उपलब्ध हो रही हैं, जोकि सूत्रोंके गंभीरार्थको स्पष्ट कर रही है. जैनागम सूत्रोंपरभी अनेक प्राचीन प्रखर विद्वान् आचार्योंके द्वारा कीहुई अनेक टीका, टिप्पणियें उपलब्ध हो रही हैं, किन्तु स्थानकवासी जैन समाज केवल सूत्रोंको ही मानती है. किन्तु प्रामाणिक आचार्योंके द्वारा की हुई टीकाए तो इन लोगोंके मतसे अप्रमाणिक ही समजी जाती है. क्यों कि उसमें सूत्रोंका ठीक ठीक अर्थ किया गया हैं जिसके माननेसे शायद मनमाने अर्थ न कर सकें! इससे प्रथमसेही उसका निषेध (बॉय् कोट) कर देना यह कितनी इनकी हुशियारी है. नन्दीसूत्रमें ८४ आगमोंकी नोंध है और नंदी सूत्र की गणना बत्तीस सूत्रमें संमिलित है. काल दोषसे बहोतसे सूत्रोंके नष्ट होनेपर आजभी ४५ आगम मिल रहे हैं तथापि हटवश ३२ ही सूत्रोंको मानना यहभी कितनी मनमानी प्रवृति है. कोई शास्त्रीय प्रमाणभी तो नही

है कि वर्तमानमें ३२ ही सूत्र प्रमाणिक है बाकी अप्रमाणिक है, उचित तो यह है कि ८४ आगमोंमें से जितने उपलब्ध हो वे सभी जैनियोंके लिये तो प्रमाणिकही होने चाहिये फिर विगर प्रमाणके अन्य सूत्रोको न मानना यहभी कितना दुराग्रह है! शायद अपने पंथके विरुद्ध विधान दिखाई दिया हो! या वंगचूलियामें इस मतकी मूल उत्पतिभी बतलाई गई है जिससेही शायद न मानते हो! थोडे सूत्रोंको मानना और थोडेको न मानना यह कितनी मनमानी पद्धति हैं. काल दोषसे सबही सूत्र खंडितही मिलरहे हैं क्यों कि सूत्रोंका जितना ग्रंथ प्रमाण लिखा गया है उतनी संख्यामे कोईभी उपलब्ध नही होता, इन त्रूटक सूत्रोंमेसेभी ३२ ही और उसमेभी कई विषयोंको नही मानना! यह कितना दुराग्रह है! सूत्रोंका हिन्दी अनुवाद अति संक्षित्प भाषामें होनेसे कई ठिकाने भावार्थभी समझमें नही आता, कई ठिकाणे सूत्रोंका अनुवादभी नही किया गया है, देखो पन्नवणा जीवाभिगमजी आदि सूत्रोंमें कितनेही ठिकाणे सूत्रोंका अनुवादभी करना छोड दिया गया है, शायद कठिन समझकर छोड दिया गया हो! वस्तुतः यह अनुवादक महाशयको उचित नही था क्यों कि सूत्रोंके जाननेवालोंके बनिस्वत उससे अनभिज्ञ वर्ग

वहोतही जादा है. उचित था कि यदि उसपर स्पष्टीकरण पूर्वक शुद्ध हिन्दी अनुवाद होता तो बहुत कुच्छ समाजोपयोगी होता. आज जैन समाजमें अधिकांश भाग ऐसे लोगोंकाभी है जो कि भाषानुवादभी ठीक नही समझ सकते. तब सूत्रोंका भावार्थ तो क्या समझेंगें. ?

हिन्दींअनुवादमें अजीमगंजनिवासीश्रीमान् राय धनपतसिंहजी बहादुरके प्रकाशित सूत्रोंके नीचे दी गई भाषाका तथा स्थानकवासी मुनियोंकेद्वारा किये गये सूत्रोपरके टब्बार्थोंका सहारा लिया गया है ! जिससे मुख्यतः सूत्रोंका हिन्दी अनुवाद करनेका महत्व पूर्वपुरुषोंकोही घट सकता है. आपने केवल कुच्छ भाषामें फेरफार करके उसीका ठीक अवतरण किया है जिससे किसी अंशसे अपका परिश्रम अवश स्तुत्य है. किन्तु अनुवादक का महत्व आपको किस आधारसे प्राप्त हो सकता है.? यह क्या बतला सकेंगे,? मेरी समझसे तो सूत्रोंपर किई हुई अनेक गंभीर टीका चूर्णियोंका सहारा लेते तो बहोतही प्रशंसनीय होता, टीका चूर्णियोंपर लक्ष्य नही देनेका कारण शायद यह हो कि आगे लिखे जानेवाले जिन प्रतिमा सम्बधी सूत्रपाठोंके मनकल्पित अर्थ नही कर सकते हो ! क्यों कि टीकामें औरभी विशेष कर स्पष्टीकरण कीया गया है. जिसमे

अनुवादककी दाल गलही नही सकती. अनुवादक महाशयका परिश्रमभी पूर्णरीत्या प्रामाणिकताके साथ तबही प्रशंसनीय हो सकताथा जब आप इस ढंगसे सूत्रोंको प्रकाशित कराते कि बीचमें मूल सूत्र, उपर संस्कृत टीका, चूर्णि. एवंच सूत्रके नीचे अक्षरश: संस्कृत छाया, फिर नीचे हिन्दी अनुवाद दिया जाता तब तो पूर्व पुरुषोंके द्वारा किये गये सूत्रार्थोंके यथार्थमें पोषकके साथ आपके किये हुवे हिन्दी अनुवादकीभी ठीक ठीक प्रामाणिकता हो सकतीथी. इस पद्धतिसे यदि सूत्रोंका प्रकाशन होता तो यह कार्यभी कितना प्रशंसनीय होता कि जिसको हम कह नही सकते. राय धनपतसिंहबाहादुरके प्रकाशित आगम सूत्र इसी पद्धतीसेही छपे हुवे हैं, जिन्हकी आज विद्वान्वर्गभी तारीफ कर रहे हैं. खेद है! कि इसी मतके ममत्वरूप पिशाचके वशीभूत होनेसे वह प्रशंसनीय कार्य न होसका, अनुवादमें कई ठिकाने दुराग्रहके चिन्हभी स्पष्ट दिखाई दे रहेहैं, जैसे **जिनप्रतिमाज** लिखकर कितनेही ठिकाने **जिनकी प्रतिमा** ऐसा लिखके जिन शद्बसे अन्य किसीकी प्रतिमा सिद्ध करनेकी चेष्टा कि है. भला ऐसे प्रयासोंसे क्या सत्य वस्तु छिप सकतीहै? अबतो पहेलेकी तरह पोलमेंपोल नही चलसकती! क्योंकि जमानाभी दिन प्रतिदिन सुशीक्षित होता जा रहा है.

और लोगोमेंभी संस्कृत, प्राकृत, दोनोही भाषाओंका प्रचार बढता जा रहा है. यद्यपि किसी अंशसे यह उद्योग जरूर प्रशंसनीय है. तथापि किसी प्राप्त प्रणीत आगम सूत्रका हिन्दी अनुवाद एक निष्पक्षपाती भवभीरु विद्वान् पुरुषोंके द्वारा किया गया जैसा प्रामाणिक और प्रंशनीय होता है वैसा एक पक्षपाती, मतके ममत्वजालमें फसे हुवे, शद्वशास्त्रके अनजान, पुरुषके द्वारा किया गय अनुवाद तटस्थ विद्वान् पुरुषोंकी दृष्टिसे वह अप्रमाणिकही नही होता किन्तु हास्यास्पदभी अवश्य होता है. किंबहुना, इसतरहका किया हुवा अनुवाद भविष्यमें महान् अनर्थका कारणभी हो जाता है. यदि स्पष्टरूपसे कहें तो यह सूत्रोंका अनुवाद नही करना है. किन्तु सर्वज्ञ प्रणीत आगमोंकी अवहीलना करना है. जहां पक्षपात है वहां सूत्राविरुद्ध क्या मनकाल्पित कल्पनायें नही होती? वस्तुत: कोईभी क्यों न हो. उसका कर्तव्य यह है कि जब किसी ग्रंथका अनुवाद करनेको बेठे उसके पूर्व उनको पक्षपाती चश्मा उतार देना चाहिये, तबही अनुवादकका महत्व है, एक ग्रंथ कर्ताके आशय को पद दलित करनेके लिये एवंच स्वपक्षके बचावके लिये ग्रंथकी आडमे अपनी अगलही खीचडी पकाना, यह कौनसी बुद्धिमानी है? अरे, मताग्रह के विवश पुरुषको लिखते हुवे पूर्वापर-

काभी भान रहता नही कि क्या विषय चल रहा है और क्यामें लिख रहा हुं किंबहुना ममयपर प्राय: सर्वज्ञ प्रणीत आगमोक्त वचनोंके परिवर्तन करनेमेंभी नही चुकते हैं जो कि एक तत्वज्ञानी महात्माओंकी दृष्टिसे महान् पाप है

महात्मा आनंदघनजी महाराज कहते हैं—

पाप नही कोय उत्सूत्र भाषण जिसो
धर्म नही कोय जगसूत्र सरीखो
सूत्र अनुसार जे भविक किरिया करे
तेहनो शुद्ध चारीत्र परखो

लालाजीद्वारा प्रकाशित हुवे इन बत्तीस सूत्रोंमें यद्यपि बहोतसे विषय आलोचना करनेके योग्य हैं, तथापि आज उन विषयोंकी समालोचना करके पाठकोंके अमूल्य समयकोमें नष्ट नही करना चाहताहूं, यद्यपि मेरा स्वभाव किसीके अनुवादित ग्रंथपर समालोचना करनेका नहीं है. तथापि जहां सरासर दुनियांकी आंखमें धूल फेंकी जातीहो, और सत्यका गला घोटकर असत्यकी स्थापना की जा रही हो, वहां वीरशाशनके प्रेमियोंको उपेक्षा करना क्या है! प्रत्युत अपनेको शाशनका विराधक बनाहै. मैं समझताथा कि मुनिगण स्वभावसेही न्याय प्रिय होते हैं क्यो कि उनका जीवन लोकोत्तर एवंच पंचमहाव्रतके

प्रतिपालक होनेसे स्वभावत: महामुनियोंके द्वारा कभीभी असत्य उपदेश, असत्यलेख, असत्यपक्ष, और उत्सूत्र भाषण आदिउग्र महान् पाप उनसे स्वप्नमेंभी नही हो सकते हैं, तब जाग्रतावस्थामें तो क्यों होने लगे.! किंबहूना भवभीरु महामुनि वास्तविकमें होते भी ऐसेही हैं, लेकिन आज पंचमकालके प्रभावसे दीक्षित नही किन्तु किसी कारण वश द्रव्य लिंगी होकर अपनी मानप्रतिष्ठा के विवश समय २ पर ऐसे कुच्छ जहरीले बीज बो जातेहैं, कि जिससे जैन संघकी अविचल शान्तिको च्छिन्नभिन्न कर सामाजिक संघटनकोभी विच्छृंखल करने में चूकते नही. अनेक कुविकल्प करके अपने अज्ञ अन्ध-भक्तोंको अपनी मायावी जालमें फसाकर आप उनके धर्म-गुरुतरीके सुशोभित होने लगते हैं, ऐसे मुनियोंके द्वारा क्या सामाजिक उन्नति या वीर शाशन की उन्नति कभी किसी स्वप्नमें होती हुई सुना है! एसे मुनियोंके द्वाराभी क्या कभी समाजमें शान्ति प्रसर सकति है? या सत्य उपदेशमय सूत्रोंके वास्तविक अर्थ सुननेमें आसकते हैं,? आज इसी जैन शाशनमें अनेक मत मतान्तरोंमें विभक्त जैन समाज क्यों दिखाई दे रही है! तत्वत: सूक्ष्म दृष्टया विचार किया जाय तो इसमे भी मूल कारणभूत यही हमारे कलिकालके महामुनि है! जब मुनियोंके यह आचरण है

तव उनकी शासित शिष्य मंडलीका तो क्या कहना? इन्ही मुनियोंमेंसे एक हमारे ये बत्तीस सूत्रोंके हिन्दी अनुवाद कर्ता मुनिजीभी हैं, जिन्होने रायपसेणीजी जीवाभिगमजी जंबुदीपप्रज्ञप्ति आदिसूत्रोमें जहा विजय देवका और सूर्याभ आदिदेवोद्वारा माणवक चैत्यस्तंभमें रही हुई तीर्थंकरोंकी दाढाओंका, और सिद्धायतनमें रही हुई तीर्थंकरों की प्रतिमाओंका विस्तारके साथ पूजाका अधिकार चला है उनको उडानेके लिये कितनी कोशिस की है जिसको देख परम आश्चर्य होता है! यद्यपि इस पाठके विषयमें स्थानकवासीयोंमेंसे अधिकांश वर्ग देवताओंका यह जीत आचार है, यह कहकेही छूट जाते हैं! लेकिन इन हमारे अनुवादक महामुनिजीने तो कमालही कर दिया है! आपने यहांतक अपनी कुतर्कोंसे यह सिद्ध करनेका प्रयत्न कीया है कि यह जिनेन्द्रोकी दाढायें नही है किन्तु शाश्वत पुग्द्गल वस्तु हैं! और ये जिनेन्द्रकी प्रतिमायें नहीं हैं किन्तु कामदेवकी प्रतिमायें हैं, वहभी निश्चित नही किन्तु कितनेही ठिकाने अवधिज्ञानी जिनकी प्रतिमाभी सिद्ध की है, एक झूटकोछिपानेके लिये मनुष्यको अनेक झूटें बोलनी पडती है, यही स्थिति अनुवाद महाशयकी हुई है, सूत्रके स्पष्ट पाठको छिपानेके लिये आपने कहांतक उत्सूत्र प्ररू-

पगकीया है कि जिसको देख ज्ञानवंत भवभीरु आत्मायें तो घवडा उठेंगी, अरे! दीक्षित होन परभी जब सत्यवृत्ति न हुई तव न मालुम किस जन्म मे होगी? तटस्थ विद्वान् वाचक वर्ग समझ सकेगें कि इस निरंकुशवृत्तिसे किये गये उत्सूत्र भाषाणसे हमारे अनुवादक मुनि महाशयके द्वितीय महाव्रतकीभी पूर्ण कसोटी हो जाती है! कि आप कितने महाव्रतोंमे दृढ हैं! जहां दूसरा महाव्रत नही है, वहां पांचो महाव्रतभी नही रहते, कुज्छ महाव्रत वेशमें तो रहतेही नही, किन्तु यहतो आत्मीय धर्म हैं! अस्तु पाठक गण अब इनकी टीका टिप्पणियोंपर ध्यान देवें जिससे मालुमहो कि मुनिमहाशयकी की हुई टिप्पणियें कहांतक सत्य हैं!

* यहां पत्रांकजो दिये है वे लालाजीके प्रकाशित सूत्रोंपरके हैं

राजप्रश्नीय सूत्रके १३४ के पत्रमें यह सूत्र चला है. " तेसुणं वयरामएसु गोलवट्टसमुग्गेसु बहवे जिणस्स कहाओ संनिखित्ताओ चिठान्ति " इसका भावार्थ है कि—माणवक चैत्य स्तंभमें स्थापित वज्रमय गोल-डब्बोंमें तीर्थंकरों की बहुतसी दाढायें रखी हुई हैं, जो कि देवताओंको वंदनीय पूजनीय है-इसका अनुवाद ठीक सूत्रानुसारही अनुवादक मुनिमहाशयनेभी किया है, इस पाठसे स्पष्ट प्रकट होता हैं कि जव जिनेन्द्रकी दाढायें पूजनीय

वंदनीय हैं, तब उनकी प्रतिमायें भाविक आत्माओं के लिये क्यों न पूजनीय हो? इस परसे जिनप्रतिमाकी सिद्धी होती हुई देख मुनिजीको यह विषय असह्य हो गया जिससे इस विषयको छिपानेके लिये आपने किसतरह की असबद्ध कुतर्कोंसे सत्यका गला घोटा है, जिसमें आपको पूर्वापरकाभी भान न रही कि मे क्या लिख रहा हुं—आप लिखते है—यह दाढा जैसी आकारवाली रत्नमय शास्वत वस्तु है. परंतु तीर्थंकरों की दाढायें नही हैं, क्यों कि तीर्थंकरों की दाढायें ग्रहण करनेका इन देवोंको अधिकारभी नहीं है, और औदारिक शरीरके पुग्द्रल विशेष काल रह सकतेभी नहीं हैं—यह आपकी केवल मन कल्पित शास्त्रविरुद्ध कुतर्कही है, न तो आपने इस विषयके पुष्ठ्यर्थ कोई शास्त्रीय प्रमाणही दीया है, और न इसको युक्ति पुरस्सर सिद्धही कर सके, न मालुम आपने किस सूत्रके आधारपर यह टिप्पणी की है? [१] आप लिखते हैं कि —यह दाढा जैसी रत्नमय शाश्वत वस्तु है इसके लिये मुनिजीने कोई शास्त्रीय प्रमाण क्यों नही दिया? यदि यह शाश्वत वस्तु है तव आपही जंबूदीपन्नतिसूत्रमें पत्र ८८ में आपने भीतो ऐसाही अनुवाद किया है-भगवान् रिषभदेवजीके निर्वाण होनेपर चार निकायके देवोने मिलकर उनके

शरीरका अग्नि संस्कार किया, और इन्द्रादिदेवोने भगवन्तकी दाढा वगैरहलेगये हैं, तद्यथा " **तएणंसे सक्के देविन्दे देवराया भगवओ तित्थगरस्स उवरिल्लं दाहिणं सकहं गेण्हइ, ईसाणे देविन्दे देवराया भगवओ तित्थगरस्स उवरिल्लं वामं सकहं गेण्हई, चमरे असुरिन्दे असुर राया हिट्ठिल्लं दाहिणं सकहं गेण्हई, वलीवईरोआणिन्दे वैरआणिराया हिट्ठिल्लं वामं सकहं गेण्हई, अवसेसा भवणवई जाव वैमाणिया देवा जहारिहं अवसेसा अंगुमंगां केई जिणभत्तीए केई जीअमेयं तिकटटु केई धम्मो तिकटटु गेण्हंति** " शक्र देवेन्द्रदेवराजाने भगवान् केमुंहमेंसे उपरकी दाहिणी दाढा ग्रहणकी, ईशानेन्द्रने उपरकी बायी तरफकी दाढा ग्रहणकी, चमरनामक असुरेन्द्रने नीचेकी दाढा ग्रहणकी, वली नामक वैरोचनेन्द्रने नीचेकी बांयी दाढा ग्रहणकी और-शेष भवनपतियावत् वैमानिक देवोने यथा योग्य शरीरका शेषभाग ग्रहणकिया, कितनेही देवोने तीर्थंकरकी भक्तिके वशसे, कितनेकने अपना जीत्त आचार समझकर कितनेकने धर्म समझकर ग्रहण कीया, इन दाढादिकको इन्द्रोने औ अन्य देवोनें लेकर क्या किया? इसका खुलासाभी स्पष्ट सूत्रमेंही कर दिया गया है तद्यथा—" **जणेव साइं साइं विमाणाइं जेणेव साइं भवणाइं जेणेव साओ सभाओ**

मभाओ सुहम्माओ जेणेव सगा सगा माणवगा चेइए खंभा तेणेव उवागच्छंती २ त्ता वयरामएसु गोलवट्ट समुग्गएसु जिणस्स कहाओ पखिवंती २ त्ता अग्गेहिं वरेहिं मल्लेहिं गंधेहिं अच्चेन्ति २ त्ता विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरंति" इस सूत्रका अनुवादभी आपहीने इस मुजव किया है-जहां अपने अपने विमान अपने अपने भवन अपनी २ सभा सुधर्मा और अपने २ माणवक चैत्य स्तंभथे, वहां आये, और उन्हीं वज्र रत्नमय गोलडब्बोंमें जिन दाढाको रखी, और श्रेष्ठ मांगल्य गंधसे अर्चनाकी और विपुल भोग भोगवते हुवे विचरने लगे-यहां आपनेभी **जिनदाढाही** लिखी है, किन्तु दाढामय शाश्वत पुद्गल वस्तु नही लिखी, इसका क्या कारण है? एक जगह क्या लिखना, और दुसरी जगह कुच्छका कुच्छ लिखना, यही क्या आपके लेखकी प्रामाणिकता है? जब सूत्रकारनेही खुलासा कर दिया, तबस्वमति कल्पनासे एक नवीनही दाढामय शाश्वत पुद्गल रूप अर्थ करके व्यर्थही लोकोंको भ्रान्तिमें डालकर उलटे रस्ते उतरना, यह कितभी मूर्खता है, अरे! सूत्रोंके अनुवादकभी आपही, और टीप्पणिभी आपही कि, फिर इस जंबूदीपन्नती सूत्रके पाठके साथ संगति क्यों नही होती? टिप्पणीमें और सूत्रके अनुवादमें परस्पर विरोध क्यों?

इस लिये महाशयजी ! सूत्रपर ध्यान दीजिये, यह दाढा जैसी शाश्वत पुद्गल वस्तु नहीं है, किन्तु आगमोक्त तीर्थंकर भगवतों की दाढायें रही हुई हैं, और वहभी एक नही किन्तु अनेक तीर्थंकरों की है, क्यों कि **जिणस्स कहाओ** इस सूत्रके पीच्छे **बहुओ** यह विशेषण दिया गया है, जिसका अर्थ है, **बहोतसी** फिर आपने लिखा कि-**इन देवोंको दाढा लेनेकाभी अधिकार नही है**, आप यह निषेध वाक्य कहांसे लाये? मुखमें क्या चारही दाढा होती है ! जिससे आपको शंका उत्पन्न हुई ! जरा मुंह खोलकर देखिये कि नीचे उपरकी मिलायके कितनी दाढायें होती हैं, इसमे सूर्याभ देवके और विजय देवके माणवक चैत्य स्तंभमें दाढाओंका होना, यह कोई आश्चर्य नही है, क्यों कि सूर्याभ देव इन्द्रके सामानिक देव हैं, कुच्छ अल्पर्धिक नही हैं, एवंच महाविदेहके तीर्थंकरोंकी दाढायें सब इन्द्र और विमान भुवन नगराधिपत्यादिक देव लेते है, जिससे वहां भरत खंडकी तरह चारही इन्द्र लेवे, यह मर्यादा महाविदेह क्षेत्रमें नही है, पल्योपम कालमें असंख्याते तीर्थंकरोंका निर्वाण होता है, जिससे सबही सुधर्मा समाओंमें जिन दाढायें हो सकती हैं, और जंबुद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्रकी वृत्तिमें **जिनस्सकहा** इसका अर्थ **जिनास्थीनि** अर्थात् जिने-

श्वरकी अस्थि कही है, जिससेभी उपरोक्त सूत्र पाठके साथठी-क २ अर्थकी सुसंगति होति है, किन्तु शाश्वती दाढा तो किसी जगहभी नही कही है, अनुवादक मुनिमहाशयजी-सेही हम पूच्छते हैं, कि यदि इन देवोंको दाढा लेनेका अधिकार न होता, तो यह रायपसेणीजीमें पाठ कहांसे आया? इस लिये यातो इस सूत्र पाठको अन्यथा कीजिये, या आपकी लिखी इस टिप्पणीको काटकर प्रायश्चित लीजिये! महाशयजी! ये दाढायें केवल सूर्याभ देवकोही पूजनीक नहीथी. किन्तु उस विमानके सबही देवी देवता ओंको वंदनीय, पूजनीय, सत्कार, करनेके योग्य होती है, (२) आप लिखते है कि–**औदारिक शरीरके पुद्गल विशेष कालरह सकतेभी नही हैं,** महाशयजी! यहभी आपका लिखना केवल कदाग्रहवश एवंच भ्रम मूलकही है, आपको मालुम नहीं है, कि कृत्रिम पुद्गलोंकी स्थिति संख्यात कालतककी है, और संख्या एकसे लेके यावत् एकसो चौराणवे अंकतक संख्याताही काल कहलाता है, अर्थात् शीर्ष प्रहेलिका तक संख्याताही कालकहलाता है, और असर्पिणी कालकी अपेक्षासे पांच भरत पांच ऐरवत क्षेत्रको छोडकर पांच महाविदेह क्षेत्रोंमे जघन्यसे जघन्य २० विहरमान तीर्थंकर तो सदा विचरतेही रहते हैं, इससे

कम होते नही, पांच भरत पांच ऐरवत क्षेत्रके मिलायके एक कालमे उत्कृष्ट मिलें तो १७० तीर्थंकर मिल सकते है इससे पूर्वोक्त सूत्र पाठमें कोई बाधा नही आसकती, इससे यह आपकी आशंकाही निर्मूलक है–आपसेही पूछते है कि--भरत चक्रवर्ती ६ खंडको दिग्विजय कर अहंकार युक्त रिषभकूट पर्वत पर जब अपना नाम लिखनेको गये, वहां-पर गतकालके इतने चक्रवर्तीयोंके नाम लिखे हुवे थे कि आपको अपने नाम लिखनेतककीभी जगह न मिली, तब आपने एकका नाम मिटाकर उस स्थानपर अपना नाम लिखा-अब विचारोकि भरत चक्रवर्तीके पूर्व आठारह कोटाकोटी सागरोपमकातो भरत क्षेत्रमे धर्म विरहथा तब इतने असंख्यात कालके पहले हुवे चक्रवर्तीयोंके कृत्रिम नाम कैसे रहे? और जंबुद्वीपन्नतीमें प्रथम अरे में वाव-डियोंका वर्णन किया है, जो कि शाश्वती नही है, ये सब इतने कालतक कैसे रही? क्या इसकाभी मुनिजी खुलासा करेगे, क्यों कि स्थानकवासीभी इसको मानते हैं, इससे देव सानिध्यसे असंख्याते कालतक रहे, इसमें आश्चर्य ही क्या हैं?

जीवाभिगमसूत्र के ३८९ पत्रमें यह अधिकार चला है कि विजयदेव पांचो पर्याप्तियोंको प्राप्त करलेनेपर अपने

मानसिक संकल्पके अनुसार अपने बाह्य परखदा और आभ्यंतर परखदाके सामानिक देवोंके कहनेसे, आपने माणवक चैत्य स्तंभमें रहे हुवे वज्रमय गोल डब्बोमें तीर्थंकर भगवंतोंकी दाढाओंकी पूजाकी है, क्यों कि यही कार्य विजयदेवके लिये प्रथम हित, सुख, क्षमा, और मोक्षके लियेथा तद्यथा "**माणवए चेइए खंमे वयरामएसु गोलवट्ट समुग्गएसु बहुओ जिणस्स कहाओ संभिरिकत्ताओ चिठंति जाओणं देवाणुप्पियाणं अण्णेसिंच बहूणं विजयरायहाणी वत्थवाणं देवाणय देवीणय अच्चणिज्जाओ, वंदणिज्जाओ, उपूयणिज्जाओ, सक्कारयणिज्जाओ, सम्माणणिज्जाओ कल्लाणं मंगलं देवयं चइयं**"; विजयदेवको विजया राजधानिके देव बोलते है, कि हे देवताओंके प्यारे! माणवक चैत्यस्तंभमें वज्रमय गोलडब्बोमें बहोतसी जिनेन्द्र भगवंतोकी दाढायें रखी हुई हैं, जो कि कल्याणदाई, मंगलदाई, जिनप्रतिमाके समान ये दाढायें आपको व विजय राजधानिके बसनेवाले देव व देवीयोंको अर्चनीय, वंदनीय, पूजनीय, और सत्कार, सन्मान, करनेके योग्य रही हुई है, यह सुनकर विजय देवका जिन पूजा करना—यहांभी मुनिजीने शास्त्रविरुद्ध उटपटांग टिप्पनी कर इस विषयको छिपानेके लिये कुच्छ बाकी नही रखी, आपने यहांभी वही

लिख मारा कि-" **यह दाढा रूप शाश्वत पुद्गल वस्तु जानना, परंतु तीर्थंकरोंकी दाढाये नहीं है"** मुनिजी! आपने कोईभी शास्त्रीय प्रमाण न दे कर केवल जानना इतनाही लिखा है, किन्तु बिगर प्रमाणके कैसे जानें! क्यों कि यह लिखना आपका सर्वथा सूत्र विरुद्ध है, क्या आपकी टिप्पणी आगम रूप है? जो कि प्रामाणिक समझी जाय, फिर आप कोई सर्वज्ञ तो हैं ही नहीं, जो कि आप जो कुच्छ कहें, वे सब प्रामाणिकही हो जाय, यदि यह शाश्वत पुद्गल वस्तुही थी, फिर यहां आपको आशंका करनेका कारणही क्या था? अरे! आशंका का कोई स्थान न रहने परभी आशंका करके, अपने स्वकपोल कल्पित सिद्धान्तके अनुसार स्पष्टी करण करना-इसीसे आपके हृदय की कपटता स्पष्ट जाहीर हो जाती है, कि सूत्रमें स्पष्ट जिन दाढाही है, किन्तु यह केवल मुनिमहाशयकी बाललीलाही है, इस टिप्पणीके प्रत्युत्तरमें पूर्वोक्त समाधानही बस है, प्रकारान्तरसे आप लिखते हैं कि "**जैसे मनुष्यलोकमें ऐहिक सुखके लिये देवतादीकी सेवा करते हैं. वैसेही देवताओंको इन दाढाओंकी सेवा केवल संसार निमित्त है**" यहभी लिखना मुनिजीका कितना हलाहल मिथ्यात्व भरा हुवा है-न मालुम किस शास्त्रके आधारसे आप

लिखते हैं ? मुनिजीकी विलक्षणता तो देखिये, एक तीन ज्ञान सम्पन्न सम्यकृत्वी, जो कि भवान्तरमें मोक्षगामी होनेवाला, एंव तीर्थंकर वीर प्रभुके सामने अपनी देवरिद्धिसे नाटककर जिन भक्तिको करनेवाले सूर्याभ देवको, एक अज्ञानी सामान्य पुरुषके समान बना रहे हैं, यह कितनी इनकी समझ है, अरे! सम्यकृत्वी श्रावकभी जब यक्ष, राक्षस, किं पुरुष, आदि किसी देवकी सहाय न चाहते हुवे, सदा आत्मबल परही निर्भर रहते हैं, और पूजाभी केवल जिन देवकी प्रतिमाके अतिरिक्त अन्य किसी देवी देवता ओंकी करते नहीं, फिर देव क्यों करने लगे ? किंबहुना, आजकलके कितनेही श्रावक अनेक देवी देवताओंकी पूजा मानता करकेभी अपनेको परम सम्यकृत्वी समझते हैं, और उनके गुरुजनका उसीको संसारी खातेमें कहकर उपेक्षा करना, यह कितने आश्चर्यका विषय है ? देखो-उपासक दशांगसूत्रमें-सम्यकृत्वी श्रावकके पीच्छे "असहिज्जदेवा" यह विशेषण दिया है. फिर यह संसारी खातेका नाम किस सूत्रमेंसे मुनीजीने ढूंढ निकाला! एवंच संसारी सुखके लिये सम्यकृत्वीदेव जिनदाढाओंकी पूजा करते है, इसके लिये क्योंनही शास्त्रीय प्रमाण दिया! या केवल टिप्पणी करके लोकोंको भ्रममे डालने के लियेही प्रयत्न है! मुनिजी! जरा होशमें आईये, जिनप्रतिमा

एवं जिन दाढाओंकी पूजा संसार निमित्त नहीं है, किन्तु मोक्ष निमित्तही है, देखिये यही सूत्रमेंभी स्पष्ट खुलासा है. जीवाभिगम पत्र ४०३ मे विजयदेव उत्पात शय्यामें उत्पन्न हो, पांचो पर्याप्तियोंको प्राप्त करेलेनेपर, आपके मनमें ऐसे संकल्प उत्पन्न होते हैं—किं में पुब्विसेयं! किं मे पच्छा सेयं? किं में पुब्विकरणिज्जं? किं में पच्छा-करणिज्जं? किं मे पुब्विवा पच्छावा हियाए, सुहाए खमाए. णीससाए अणुगामियत्ताए भविस्सइ? तिकट्टु एवं संपेहेति--भावार्थ-कौनसा कार्य प्रथम करनेमें श्रेयकारी (सुखकारी) है! कौनसा पीच्छेभी श्रेयकारी है! प्रथम मेरेको कौन करने योग्य काम है! कौनसा पीच्छे करणे योग्य है? कौनसा कार्य करनेसे मेरेको पहिलेभी, और पीच्छेभी, हितके लिये, सुखके लिये, क्षमाके लिये, मोक्षके लिये एवंच जन्मान्तरमें सुखदायी होगा, एसे कार्यको विचारने लगे—यहां यदि सूत्रमें निर्दिष्ट देवके संकल्पोंपर विचार किया जायतो उससे सांसारिक कार्य की गंधभी नही मालुम होती, क्यों कि सिवाय धार्मिक कार्यके अन्य ऐसा कार्यही कौन है? जो कि आत्माके लिये हित. सुख. क्षमा. और मोक्षके लिये हो सके? उपरोक्त विजय देवके मानसिक संकल्प को जानकर उनके सामानिक देव

और आभ्यन्तर परखदाके देव उनके पास आये, और शिरसा वंदन पूर्वक जय विजयादि शद्वोंसे, विजय देवको बधाकर, उनके संकल्पके अनुसार जिन दाढा और जिनप्रतिमाओंकी पूजारूपधर्म कार्यही बतलाया है, तद्यथा—एवं खलुदेवाणुप्पियाणं विजयाए रायहाणीए सिद्धायतणंसी अठसतं जिणपाडिमाणं जिणुस्सेह पमाण मेत्ताणं सण्णिखित्तं चिठन्ति सभाए सुहम्माएमाणवए चेइए खंभे, वयरामएसु गोलवट्ट समुग्गएसु, बहुओ जिणस्स कहाओ सन्निरिक्तत्ताओ चिठन्ति जाओणं देवाणुप्पियाणं अण्णेसिंच बहूणं विजयरायहाणी वत्थवाणं देवाणय देवीणय अच्चणिज्जाओ, वंदणिज्जाओ, पूयणिज्जाओ, सक्कारणिज्जाओ, एएणं देवाणुप्पियाणं पुव्विंपिसेयं, एएणं देवाणुप्पियाणं पच्छाविसेयं, एएणं देवाणुप्पियाणं पुव्विंकरणिज्जं, पच्छा कराज्णिजं एएणं देवाण्णुप्पिया! पुव्विंजा व अणुगामियत्ता ते भविस्सई, तिकट्टु जयजय सद्दं पउज्जन्ति" इसका भावार्थ यह है कि, हे देवताओं के प्यारे! आपकी इस विजया राजधानीमें सिद्धायतन (जिनमंदिर) है, जिन्ह में हरेकतीर्थकरोके शरीरकी अवगाहना प्रमाणमें •(अर्थात् प्रत्येक तीर्थकरोंके शरीरकी अवगाहना प्रमाणमें) एकसो आठ (१०८) जिनप्रतिमाये हैं, और सुधर्मा-

सभामें रहे हुवे, माणवक चैत्य स्तंभमें रखे हुवे वज्रमय गोलडब्बोमें बहोतसी पूज्य तीर्थंकर भगवान्तोकी दाढायें हैं, यह दोनोंही आपको, व विजया राजधानीमें रहनेवाले अन्य देव देवीयोंको भी अर्चनीय, वंदनीय, पूजनीय, और सत्कार करनेके योग्य हैं. और यही कार्य आपके लिये प्रथमभी कल्याणकारी है, और पीछेभी मंगलकारी है, एवंच प्रथम और पीछेभी मंगलकारी है, और हमेशा आपके करने योग्य है, जो कि आत्माके लिये हित, सुख, क्षमा, और मोक्षके लिये होगा,-इसपरसे बुद्धिमान् स्वयं समझ सकते हैं, कि यह करणी संसार निमित्तक नहीं है किन्तु धर्म निमित्त कही है? जिनराजकी भक्ति कर्म निर्जराकी परम कारणीभूत है, एवंच लोकोत्तर परम पुरुषकी पूजाही वास्तविकमें आत्माके लिये हित, सुख, क्षमा और मोक्षके लिये होसकति है, मुनिजीके कथनानुसार तो संसार निमित्तक कार्यभी आत्माको हित. सुख, क्षमा, और मोक्षके लिये होता होगा? ईसलिये सूत्रमें स्पष्ठ जिन **प्रतिमाओंकी व निजदाढाओकी पूजा मोक्ष** की करणीसिद्ध होनेसे संसार निमित्तक नही हो सकति, अत एव मुनिजीकी टिप्पनी सूत्रके विरुद्ध होनेसे. सर्वथा अग्राह्य है, और इस उत्सूत्र भाषणके महान्

पापसे शुद्ध होनेके लिये अवश्य प्रायश्चित लेना चाहिये किंबहुना जंबूद्वीपन्नत्तिमें यह स्पष्ट सूत्र है कि-" **केई जिणभत्तिए केई जीयमेयं तिकट्टु केई धम्मोत्तिकट्टु गिण्हंति,**" कितनेही जिनभक्तिसे, कितनेही जीत आचार समझकर, और कितनेही धर्म समझकर, जिनदाढाओंको ग्रहणकी, इस लिये जिनदाढाओंका लानाभी जिनभक्ति एवं धर्म हेतुक होनेसे मुनिजीका **संसार निमित्तक** लिखना कितना शास्त्रके विरुद्ध है, यह पूर्वोक्त पाठ परसे स्पष्ट समझ सकते हैं, अरे! जिनप्रतिमाकी एवंच जिनदाढाओंकी पूजा सन्मान या बहुमान क्या करना है? साक्षात् तीर्थंकर भगवंतोकाही सन्मान करना है, और सिद्धावस्थामें रहे हुवे भगवंत केवल ज्ञान, केवल दर्शनसे हम छद्मस्थोंकी पूजा व भक्तिको भी जान रहे हैं, और देख रहे हैं, जिससे हमारी जिन पूजा सफल ही है. अरे! प्रभु भक्ति ही प्रथम धर्म है, जिसमे प्रभु भक्ति नही, उसकी तिर्थंकरोंके आगमोंपरभी श्रद्धा नहीं. श्रद्धाके बिगर ज्ञान—अज्ञानरूप है, और चारित्रभी कुचारित्ररूप रहा हुवा है. यदि मुनिजीमें जिन भक्ति होती, तो जिन आगमकी इस तरहसे उत्सूत्रभाषणकर कभी अवहीलना न करते. और न प्रतिमासे भी कभी विरोध करते? अरे! मुनि होकर जिन पूजाको

संसार निमित्तक कहना! यह कितनी सरासर भूल है, जो कि एक मूर्खभी नही स्वीकारेगा. फिर जानके कौन संसारको बढावेगा? एवं मनुष्यके माफक सम्यक्त्वीदेव मूर्ख तो है ही नही, और सम्यक्त्वकी अपेक्षा से तो देवोको भी संवरी कहा है, ठाणांग सूत्रमें सम्यक्त्वको संवर धर्मरुप कहा है, इससे जिन पूजा यह स्पष्ट सम्यक्त्वकी करणी है. वैमानिक देव होकर भी क्या अपनेसे अधः स्थितिके भूत, प्रेत व्यंतरादिककी पूजा करेंगे? भला ऐसे देवोंकी भी पूजा क्या हित, सुख, क्षमा, और मोक्षके लिये हो सकती है.? सम्यक्त्वी होकर क्यों सम्यक्त्वके अतिचार भूत अन्यदेवोंकी पूजा करेगे? इससे यही अन्तिम निष्कर्श निकलता है कि सिवाय मुनिमहाशय के युक्तिशून्यशास्त्र विरुद्ध कुतर्कोंके उसमें कुच्छभी तथ्यांश नही है.

ऐसेही रायपसणी सूत्रके प्रष्ठ १३८ में सिद्धायतनमें रही हुई १०८ श्री जिनप्रतिमाओंका महान् वर्णन है, जो कि सिवाय जिनप्रतिमाके अन्य देवोंकी प्रतिमामें वह कदापि घट नही सकता, इसको अन्यथा करनेके लिये अनुवादक महाशयको जब कोई अन्ययुक्ति न सुझी, तबजिन प्रतिमा के वर्णन में एक "तवणिज्जामया चच्चूया" यह एक विशेष-

णभी रहाहुवा इसका भावार्थ है कि जिन प्रतिमाके तप्त स्वर्णमय चूचूक है, इस परसे आप अपनी कुतर्कसे किसतरहसे अर्थका अनर्थ कर अपने स्वार्थको सिद्ध करने के लिये कितनी मिथ्या टीप्पणी करते है—पाठकगण ध्यान देंवे. आप लिखते है—**तीर्थंकर के स्तन नही होते, इस लिये यह तीर्थंकरकी प्रतिमा नही है**—अहा! हा मुनिजी कितने हुशियार है! आपकी तर्क कितनी प्रौढ है! वाहरे बुद्धि! अरे यह तो हरेक को अनुभव सिद्ध है कि पुरुष मात्र के हृदय पर स्तन का चिन्ह होता है, जिससे पुरुष के अंग की शोभा है. यदि ऐसा न हो तो देखने मेभी कितना बुरा देखाई देवें. शायद मुनि महाशय की छातिपर स्तन के चिन्ह नही होगे! जिससे ही आपको यह भ्रान्ति भई हो. या मुनिमहाशयने **चुच्चया** इसके माने स्त्रीका स्तन समजा हो, लेकिन यह ज्ञान नही है कि यह पुरुष की प्रातिमा है कि स्त्री कि? जब पुरुष की प्रातिमा है. फिर स्त्रीका स्तन समझना ही अज्ञानता है. महाशयजी! प्रथम **चच्चूया** इसके माने स्तन नहीं है, किन्तु स्तनके उपर की छोटी गुंथी को चूचूक कहते है इससे आप चुच्चूया के माने स्त्रीयों के स्तन न समजे! क्यों कि **चूचुकंतु कुचाग्रं** स्यात् इत्यमरः यह अमरकोशका भी प्रमाण है, महाशयजी! आप

एक चूच्चूया शंब्दसे ही जिन प्रतिमा सम्बन्धी समग्र पाठ के भावार्थ को छिपाना चाहते हो, यह आप की भ्रान्ति है हम आप से ही पूच्छते हैं कि क्या पुरुष को स्तन के चिन्ह नहीं होते ? तब क्या तीर्थंकर भगवंत मनुष्य नहीं थे ? जिससे कि उनकी प्रतिमा के चिन्ह न हो ! आपने कोई प्रमाण भी तो नहीं दिया. जिससे कि हम आप की टिप्पणी को सार्थक समझें. जरा जैनमंदिरों में पधारिये, दर्शन कीजिये, मालुम होगा कि जिनेन्द्रोंकी प्रतिमाओं को स्तन के चिन्ह होतें हैं कि नहीं ? फिर यहां जिन प्रतिमायें सिद्धायतन में कहीं है, और सिद्धायतन का अर्थभी **जिनमंदिर** है, क्यों कि सिद्धायतन शद्ब की व्युत्पत्ति भी **सिद्धानां मुक्तजीवानां आयतनं गृहं सिद्धायतनं जिनमंदिर मित्यर्थः** यहां जिन प्रतिमाके अतिरिक्त अन्यदेवों की भावना ही आपके मन में कैसे उत्पन्न हुई ! यही देख आश्चर्य होता है ! ओ ! हो ! सच्च है ! मुनिजी को यह प्रयास करना भी उचित है, क्यों कि यदि ऐसी टिप्पणी न करें तो **जिन प्रतिमा** की सिद्धि हो जाती है. क्यों कि जिन प्रतिमा के साथ आपका स्वाभाविक वैर सम्बन्ध है, आगु—इसी पाठ के आगे **जेणेव सिद्धायणे जेणेव देवच्छंदए जेणेव जिणपडिमाओ** यह पाठ भी जिन प्रतिमाको ही दृढ करने में प्रबल प्रमाण

है—देवच्छंदा समवसरण के द्वितीय गढ में ईशाण कोण तरफ होता है, जिस में तीर्थंकरभगवंत देशना के बाद विराजते हैं, उसी देवच्छंदेका अनुकरण सिद्धायतन (जिनमंदिर मे) में मूलगंभारा है जिसे का मूलमंडपभी कहते हैं, जिस मे सिंहासनपर जिन प्रतिमा विराजमान रहती है. देवच्छंदा सिवाय तीर्थंकर भगवंत के अन्यदेवों को होता नही, और वह देवच्छंदाके नाम से व्यवहृत भी नही होता. यह तीर्थंकर नाम कर्म ही का प्रभाव है, जो कि सिवाय अरिहंतो के अन्य को होता नही, और देवों के भी पूजनीय होनेसे जिनेन्द्रदेव देवाधिदेव कहलाते हैं, इससेंही सबही सम्यक्त्वी देव जिन प्रतिमा की प्रतिदिन पूजा करते रहते है यह पूर्वोक्त सूत्र पाठपरसे सिद्ध है, इसी सिद्धायतन के देवछंदे में सूर्याभदेव स्नान वगेरह कर शुद्ध वस्त्रालंकारादि धारण कर हाथ में पूजा की सामंग्री लेकर साथ में अनेक देवी देवताओं ने धूप, दीप, नैवेद्य आदि अनेक विध पूजाकी सामग्री हाथमें ले रखी है, ऐसे आडंबर से परवरे हुवे, उसी सिद्धायतन में प्रवेश करते हैं, और भक्ति के साथ देवच्छंदे में (मूलमंडप) प्रवेश कर जिनेन्द्र भगवन्तों की जिन प्रतिमाको देखते के साथ वंदना नमस्कार किया और स्वयं मोर पिच्छीसे जिन-

प्रतिमा को प्रमांजन कीया, धूप खेकर, अनेक विधजलों से (गंगा, पद्मद्रह, क्षीरसमुद्रादिजल) प्रक्षालन किया, वाद केसर, चंदन, पूष्प, धूप, दपि, अक्षत, फल नैवेद्य वस्त्रादिसे पूजाका सविस्तर से सूत्रमें वर्णन चला है. इसी पूजा के विषय में रायपसेणीजी पत्र १७० में सूयार्भ देवने **जिनप्रतिमा** पर "**पुष्फारुहणं**" पुष्प चढाये **मल्लारुहणं** माला चढाई, **गंधारुहणं** अत्तर वगेरहा सुगंधित द्रव्य चढा ये. **चुन्नारुहणं** वासक्षेप चढाया, **वत्थारुहणं** वस्त्र-चढाया, यह पाठ चला है इस तरह के जिन पूजा सम्बन्धी पाठ को छिपाने के लिये जब कोई आपको अवकाश न मिला तब विवश हो **वत्थारुहणं** इस पर से ही अपने अभिप्रेत अर्थ को किस निरंकुश वृत्तिसे सिद्ध करने के लिये अनुवादकर्जीने बाललीला करी है, जिसको देख लोग हंसे बिगर न रह गे. क्यों कि इतने बडे पाठ को तो छिपाते नही और केवल एक वत्थारुहणं पर से ही जिन प्रतिमा का विरोध करना! भला यह विरोध कैसे टिक सकता है ? जब विरोध ही करना था तो सब पाठही को सूत्रमें से निकाल देना था, जिससे न रहे गा वास, न बजेगी बांसुरी. अस्तु! आप लिखते है कि **वत्थारुहणं इस सूत्र का अर्थ है वस्त्र चढाया तीर्थंकर वस्त्र धारण करते नहीं, इस लिये**

यह तीर्थंकरकी प्रतिमा नहीं है, यह मुनिजीका लिखना कितना भ्रममूलक है! क्या मुनिजी दिगंबर मुनितो नहीं है? नही, नही, मुनिजी तो अपने को श्वेतांबरी समझते हैं, फिर आपकी यह टिप्पनी तो श्वेतांबर सूत्रों से तो सर्वथा विरुद्ध है, यह किस श्वेतांबर शास्त्र के आधार पर आप लिखते है? उस का आधार भी तो देना था. दिगंबरो के शास्त्रानुसार तो आपको भी वस्त्र पहरने का अधिकार नहीं है, फीर वस्त्र क्यों धारण करते है? वस्त्र पहेर के भी आप अपनेको मुनि लिखते है, यह भी आश्चर्य है! यदि श्वेतांबर मजहब से अपने को मुनि कहतें है तो आपको यह भ्रम कैसे उत्पन्न हुवा? क्या आपको यह मालुम नही है कि, हरेक तीर्थंकर भगवंतों के पास दिक्षा समयमें इन्द्रका दिया हुवा देवदुष्य वस्त्र रहता है, और आपनेभी **जंबुदीप्रज्ञप्ति** सूत्रमें कौशलिक भगवान् ऋषभदेवजीके निर्वाण महोत्सवमें स्पष्ट लिखा है कि, **वस्त्र चढाया** फिर यहां जिन प्रतिमाके विषयमें क्यों चौंके? कभी आप जैन मंदिरोंमे तो गये ही नही, फिर आपको कैसे मालुम हो कि तीर्थंकरों की पूजामें एक वस्त्रपूजाभी है. इसलिये मुनिजीका लिखना शास्त्रविरुद्ध होनेसे विद्वानोंके लिये अनादरणीय ही है. किंबहुना जीवाभिगम

सुत्रके ३९४ के पृष्टमें विजयदेवके अधिकारमें जिन प्रतिमा का और जिन पूजाका सविस्तर से पाठ चला है तद्यथा— "तत्थणं देवच्छंदए अट्ठसयं जिणपडिमाणं जिणुस्सेह पमाणमेत्तीणं संन्निखित्तं चिट्ठई" इसका भावार्थ यह है "उस देवच्छंदे में एक सो आठ जिनप्रतिमायें तीर्थंकरोके शरीर की अवगाहना प्रमाण में रही हुई है, इतना सूत्र में स्पष्ट खुलासा रहने पर भी केवल मताग्रहवश मुनिजीने यहां किसतरह अर्थ का अनर्थ कर उत्सूत्रभाषण किया है. जिन्ह के लिये भावदयाही लाना उचित है, यहांपर जिनप्रतिमाके उत्थापन करने के लिये तीन तरह से आपने कोशिस की है, तथापि आप ही के लेखसे स्पष्ट प्रकट हो रहा है कि आपने तीन प्रमाण दे करके भी आप यह निश्चय नही कर सके कि यह किसकी-प्रतिमा है, और विद्वान्वर्गतो आप के दिये हुवे तिनोंही प्रकारोंसे स्पष्ट समझ जायंगे कि केवल जिन प्रतिमा के पाठको छिपाने के लिये ही यह मुनिमहाशयने छल रचाहै! आप लिखते है—(१) जिन शब्द के माने कामदेव भी होता है, जैसा कि हेमाचार्यजीकृत हैमीनाममालामें लिखा है "अरिहंतोऽपि जिनोचैवाजिनो सामान्य केवली कंदर्पोपि जिनोचैव जिनो नारायणो हरिः" अर्थात् अरिहंत, केवली, काम-

देव व नारायण इन चारोंको "जिन" कहते हैं, इससे यह प्रतिमा कामदेवकी जानी जाति है. (२) स्थानांगसूत्र में अवधिज्ञानी, मनपर्यवज्ञानी और केवलज्ञानी तीन्होंको जिन कहे हैं, जिससे यह प्रतिमा अवधिज्ञानी जिनकी जानी जाती है. (३) उवाईसूत्र में श्री महावीर भगवान्के शरीरके वर्णनमें चूचूक का कथन नही आया, और यहां तवणिज्जामया चूच्चूया अर्थात् तप्त सुवर्णमय चूचुक है, यह जिन प्रतिमाके पीच्छे विशेषण दिया गया है. इससे यह तीर्थंकरकी प्रतिमा नहीं है!

इसतरह से आपने तीनों प्रकारान्तरो से जिन प्रतिमाके अस्तित्व को छिपाने के लिये कुच्छ कम उद्योग नही है, जो कि संसार बढने के लिये बहोत है, धन्य है मुनिजी आप की विद्वत्ताको! वास्तविक में तीनों प्रकारान्तरोंसे भी आप यह निश्चय नही कर सके कि यह अमुक की प्रतिमा हैं, आपने हैमीनाममालाका प्रमाण देकर जिन शब्द के माने कामदेव है, यह सिद्ध कर यहां कामदेव की प्रतिमा सिद्ध की है, किन्तु महाशयजी! उसी हैमीनाममाला के दीये गये प्रमाण में जिन शब्द के माने क्या अरिहंत नही होता? आप ही के दीये गये प्रमाण में क्या "अरिहंतो ऽपि जिनोचैव" यह स्पष्ट उल्लेख नहीं है. तब आपने

अरिहंत को छोडकर कामदेव को किस आधार से ले रहे हैं ? कामदेव के साथ सूत्र के पूर्वापर पाठकी संगती भी कैसे होगी ? जरा इस का भी आप को ख्याल है ! जब जिन शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, तब जिन शब्द के माने सामान्य केवली को एवंच नारायण को भी क्यों नहीं लेते ? किस आधार से आप कामदेव को ही स्वीकारते हो? उचित तो यह है कि अनेकार्थ वाचक जिन शब्द का जो अर्थ पूर्वापर सम्बन्ध के साथ उपयुक्त हो, वही अर्थ जिन शब्द का लेना चाहिये. उसी में अर्थ की सुसंगति के साथ विद्वत्ता जाहीर होती है, "जिन" शब्द कितने अर्थ का वाचक है. इसके लिये मुनिजीने हैमीनाममाला का प्रमाण दे कर स्वाभिमत सिद्धान्तको पुष्ट कीया है, यदि मुनिजीको यह ग्रंथ मान्य है तो फिर इसी ग्रंथ में "चैत्य" शब्द का अर्थ **चैत्यं जिनौकस्तद्बिंबं** अर्थात् चैत्यका अर्थ "जिनमंदिर" और "जिनप्रतिमा" है. यह अर्थभी क्यों नहीं मानते ? उसी में बलि शब्द का अर्थ भी देव पूजा कीया है, फिर यहभी क्यों नहीं मानते ? अरे समग्र ग्रंथको न मानकर केवल एक शब्द का जिसके कि बहोतसे अर्थ होते हैं, उसमेंसे मन माना अर्थ निकाल के जहां तहां लगाना, यह शास्त्रज्ञोंकी दृष्टिसे सर्वथा हस्यास्पद होए बिगर

नही रहता. और ऐसे हाथ पांव पिटनेसे तो कुच्छ असत्य सत्य नहीं हो सकता. उपरोक्त प्रकरो आठ — जिन प्रतिमाओंके वर्णनमें "जिणुस्सेह पमाणमेत्तीणं" अर्थात् तीर्थकरोंकी अवगाहन प्रमाणमे प्रतिमा रही हुई है, इससे उत्कृष्ट तीर्थकरों के शरीर की अवगाहना ५०० धनुष्यकी और जघन्य ७ हाथ प्रमाणमें होती है. यहां इस सूत्रका अर्थ कामदेव के साथ कैसे संगत होगा? क्या कामदेवभी कई होते है? जैसे तीर्थंकर भगवंत २४ होते है क्या कामदेवकीभी अवगाहना ५०० धनुष्य प्रमाणमे है? शास्त्रमे तो देवोंकी उत्कृष्ट शरीर की अवगाहना ७ हाथ की ही कही है, और जघन्य १ हाथ की. इस लिये यह सूत्र आपके कामदेवके साथ कैसे चरितार्थ होगा? एवंच देवोंकी चार निकायोंमेंसे आपका अभिप्रेत कामदेव किस निकायमे का हैं? भुवनपति, ज्योतिषी, वैमानिक, इन देवोमें से तो यह है ही नही. इससे व्यन्तर निकाय में ही इसको समझना चाहीये! यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है कि महर्द्धिक वैमानिक देव अल्पार्द्धिक कामदेवकी पूजा क्यों करने लगा? क्या स्वामी भी सेवक की पुजा करता है! नहीं नहीं कभी नहीं. एवंच यह सम्यक्दृष्टी है या मिथ्यादृष्टी है! यदि मिथ्यादृष्टि हैं तो सम्यकत्वी देव क्यों उपासना करने लगे?

क्या सम्यकृत्व मे भांगा नही लगता? यदी सम्यकत्वी है तो किसके पास सम्यकत्व प्राप्त किया और वहभी किस सूत्रके आधारसे? क्या किसी सूत्र में से स्पष्ट निकाल कर बतला सकेंगे कि सूर्याभदेव या विजयदेव कामदेवकी पूजा करते है! मुनिजी भ्रमजालमें मत पडिये, औंर भोलेभाले जीवोंको धोखा न दिजिये. देखिये इसी विषय का खुलासा भी स्पष्ट सूत्रकारनेही कर दिया है. जब सूर्याभदेवने जिनदाढाओंकी और जिनप्रतिमाओंकी बडी तैयारी के साथ देवी देवताओंके पूजा कर लेने पर ७-८ पांव पिच्छे हट कर जिनप्रतिमा के सामने दाहिना गोडा नीचा रख कर औंर वायां गोडा उंचाकर हाथ जोड जिनेंद्र भगवंतकी इस तरहेसे एक लक्ष्यसे स्तवना की है, **नमोत्थूणं अरिहंताणं भगवंताणं** इत्यादि शहस्रस्तव पाठ चला है, इसका अर्थ है नमस्कार हो, अरिहंत भगवंतको. क्या आपका कामदेवभी अरिहंत कहलाता है? **तित्थगराणं** इसका अर्थ साधु, साध्वी, श्रावक श्राविकारूप तीर्थके करनेवाले यह विशेषण दिया है. क्या आपका देवभी ऐसे तीर्थको प्रगट करता है? **सयंसं-बुद्धाणं** स्वयं बोधीको प्राप्त हुवे. क्या आपका कामदेव भी स्वयं संबुद्ध है? आपके कामदेवके साथ यह विशेषण घट सकते है? **धम्मदयाणं. धम्मनायगाणं, धम्मसारहीण,**

धम्मवरचा उरंतचक्कवट्टीणं, अप्पडिहयवरणाणं दंशण-धराणं—ये सब नमोत्थुणंमें बतलाये तीर्थंकरोंके गुण क्या आपके अभिप्रेत कामदेवमेंभी घट सकते है! कितने अफसोस का विषय है कि, मुनिमहाशय की अकल तीर्थंकरोंको उद्देश्यकर किई हुई स्तवना कामदेव के साथ चरितार्थ कररहे है. यह हरेक जानते है कि जैसा देव हो उसकी स्तुतिभी वैसीही की जाती है, एक महानुत्यागी निस्संगी महात्माका अनेक विशेषणों के द्वारा कियागया वर्णनको एक पामर के साथ उन गुणोंकी संगती हो सकती है! कभी नही! फिर कामदेवका और अरिहंतो का मेरु सर्शपवंत महानु अन्तर रहने परभीं केवल कदाग्रहष कामदेवकी प्रतीमा सिद्ध कर जैन सूत्रोकी अवहीलनाके साथ तीर्थंकरोकी अवज्ञा की जाती है! श्रावक गण समज गए होंगे कि इस नमोत्थूणं के पाठने स्पष्ट जिनप्रतिमा ही सिद्ध हो रही है. फिर सिद्धायतन (मुक्तात्माओंका घर) इस नामपरसे ही तीर्थंकर भगवंतोका मंदिर सिद्ध हो रहा है. भला उसमें कामदेव की प्रतिमा क्यों होने लगी? क्या कामदेवभी मुक्तात्मा है? जिसके लिये सिद्धायतनमें उसकी कल्पना कर रहे हो, फिर 'नमोत्थूणं' का पाठ सिवाय अरिहंतदेवके अन्यको लागु नही होता और अन्य किसी देवके आगे बोलाभी

नही जाता ! जोकी जैनोंके आबाल वृद्धतक समझते है. फिर मुनि होकर क्यों भूल रहे है ! क्या चित्त विभ्रमतो नहीं हुवा ? और जिन प्रतिमाके अस्तित्व का निषेध करनेके लिये जो मुनिजीने अंडबंड उत्सूत्र भाषण किया है, उन सबपर इस नमोत्थूणं के पाठसे ही आपकी सभी तर्के निष्फल हो रही है. (२) आपने स्थानांगसूत्रका प्रमाण देकर प्रकारान्तरसे जिन प्रतिमाको अवधिज्ञानी जिनकी सिद्ध कर रहे हो यह भी कितनी अज्ञानता है ! यह तर्क भी नमोत्थूणं पाठके होनेसे सिद्ध नही हो सकता. क्यौं के कोई अवधिज्ञानी जिनके आगे नमोत्थूणं का पाठ नही कहा जाता शिवाय जिन प्रतिमाके. मुनिजीको लिखते हुवे ख्याल में यह नही आया कि जब अवधिज्ञानी की प्रतिमा पूजनीय हैं, तब सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् तीर्थंकरों की दिव्य प्रतिमा क्यों न पूजनीय होगी ? क्या तीर्थंकरोंमे न्यून गुण है ! जिससे उनकी प्रतिमा पूज्य नही हो. अवधिज्ञानी जिन तो छदमस्थ है. छदमस्थ चारोंही गतिमे रूलते रहते है ! फिर उनकी पूजा मोक्षके लिये कैसे होगी ! एवंच तीन प्रकार के जिनमेंसे अवधिज्ञानीही जिन लेना यह किस आधारसे सिद्ध कर रहे है. उसके लिये क्यों प्रमाण नहीं दिया ! (३) तीसरी तर्कका

समाधान पूर्वकी तरह समझना. महाशयजी! इतनी मायावी जाल को फेलाकर क्यों बालजिवोंको धोका दे रहे हैं! यही क्या मुनियोंका धर्म है! जानते हुवेभी क्यों अनजान बन रहे हो. क्या इस छलका परिणाम जन्मातरमे नही भोगना होगा! जरा आंखे खोलकर सूक्ष्म दृष्टिसे सूत्रके पूर्वापर संबंधकी तरफ ध्यान दिजिये. जिससे आपको मालूम होगा कि, यहां तीर्थंकरोके शिवाय अन्य देवोंकी भ्रान्ति करना यह सरासर अपनी आत्माको बहुल कर्मी बनाना है. क्यों कि जीवाभिगम सूत्रमें विजयदेवका और राजप्रश्नीय सूत्रमें सूर्याभदेवका जिनपूजाके अनंतर जिन प्रतिमाके सामने बेठ कर नमोत्थुणंके पाठसे स्तुति कि है जिसका अर्थ यह है कि—नमस्कार हो अरिहंत भगवंतोको जोकि धर्मके आदि करनेवाले, साधु साध्वी, श्रावक श्राविका-रूप तीर्थके प्रकट करनेवाले, छद्मस्थ भाव के चले जानेमे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, जिनका ज्ञान, दर्शन, अप्रतिपाति हैं, स्वयंबुद्ध हैं- इत्यादि शक्रस्तवनिर्दिष्टसब विशेषण तीर्थंकर कों ही उद्देश करके दीये गये हैं, जिससे ये गुण न तो कामदेवमें घट सकते है, और न अवधिज्ञानीजिनमें ही, किन्तु परमपूज्य त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवंतोमेही घटनेसे यह प्रतिमा स्पष्ट जिनराजकीही है, इसमें अन्यदेवो की

कल्पना कर अपने मन कल्पित अर्थको सिद्ध करना यह सरासर आत्माको बहुल कर्मी ही बनाना है. ऐसे ही आपने जिनप्रतिमा को उत्थापन करने के लिये रायपसेणी सूत्र पत्र १२८ में "तासीणं मणिपेढियाणं उवरीं चत्तारी जिणपडीमाओ जिणुस्सेहपमाणमेत्ताओ संपलियंकणिसण्णाओ सन्निरिकत्ताओ चिठान्ति," इस सूत्रमें जिनप्रतिमाका स्वरूपभी स्पष्ट निर्दिष्ट कर दिया गया है. जिसका भावार्थ है – उन मणिपिठिकाओ के उपर चार जिन प्रतिमायें शरीर की अवगाहना प्रमाणमें पद्मासनमें बेठी हुई है. यहां पद्मासन में ध्यानस्थ प्रतिमा तीर्थंकरों के सिवाय अन्यदेवों की होती नहीं. और वर्तमान काल में भी हरएक जैनमंदिरोंमें ऐसीही जिनप्रतिमा दिखाई देती है. और समस्त जैन उसको व्यवहारमेंभी जिनप्रतिमाही कहते है. क्या वर्तमानमें कहींभी जिनप्रतिमा इस नामसे प्रसिद्ध पूजी जाती हुई कामदेव प्रतिमाका एकभी उदाहरण मुनिजी बतलावेंगे ? जब प्रत्यक्षमें ही बाधित है; तब परोक्षमें कैसे मुनिजी सिद्ध कर रहे है ? यहां भी आपने जिन प्रतिमा को कामदेव की प्रतिमा एवंच अवधीज्ञानी जिनकी प्रतिमा कहके अपूर्व बाललीला की है, जिसकी समालोचना उपरोक्त हो चुकी. जिनप्रतिमा के लिये हमको विशेष प्रमाण देने की जरूरतभी नहीं

हैं, क्योंकि इन चारोंही जिनप्रतिमाओं का नामभी इसी सूत्रमे उल्लेख किया गया है. जिससे जिन शब्दम भ्रान्ति होने के लिये कोई स्थान ही न रहा. देखिये, इन प्रतिमाओंके नाम यह है—"तंजहा उसभा वद्धमाणा चंदाणणा वारिसेणा" अर्थात् ऋषभाननजी, वर्द्धमानजी, चन्द्राननजी, वारीषेणजी. जैन कुलमे उत्पन्न हुवे आबाल वृद्धतक जानते है कि ये नाम शाश्वती जिन प्रतिमाओंके है. क्या येभी कामदेवके नाम है! कही भी किसी शास्त्रमे या कोषमें ये कामदेवके नाम सिद्ध नहीं होते. यह केवल मुनिजीका दुराग्रह नही है तो और क्या है! इस लिये मुनिजीकी सबही जिन प्रतिमा सम्बन्धी टिप्पणियें निष्पक्षपाती विद्वान्वर्गके लिये अग्राह्य है. किंबहुना इसी नामकी जिन प्रतिमा यें नंदीश्वर दीपमें भी है जहां कि ६४ इंद्र अष्टान्हिका महोत्सव करते हैं. और यह उल्लेख ठाणांग सूत्रके ४ थे ठाणेमे अंजनगिरि आदि ५२ गिरि सिद्धायतनोंका, उनमें रही हुई ऋषभानन, चंद्रानन, वारिषेण, वर्धमान, इन शाश्वती जिनप्रतिमाओंका वर्णन है. जहांपर तीर्थंकरोंके पांचोकल्याणकों में एवंच अठ्ठाई पर्यूषणादि महान् पर्वोके प्रसंगपर ६४ इंन्द्रोका सपरिवारके साथ जाकर अष्टान्हिका महोत्सव करना.

यह उल्लेख जंबुदीप्रज्ञप्ति सूत्रमें भगवान् ऋषभदेवजीके निर्वाणके अधिकारमें स्पष्ट है. और हमारे अनुवादक मुनिजीने भी जंबुदीप्रज्ञप्ति में यही अर्थ किया है, क्या यहां भी जिनप्रतिमाके माने कामदेव की प्रतिमा करेगे? क्या कामदेव इतना महर्धिक है कि जिसकी ६४ इन्द्र महिमा करें! अपसोस! अपसोस!! कितनी सरासर कपट जाल रची गई है कि जिसको देख आश्चर्य होता हैं, जब आपको कोई युक्ति न सुझी तव स्वयं विवशहो लिखते है. **जिनप्रतिमाकी पूजा करना यह देवोंका जीत आचार है** जीतके माने हैं व्यवहार मुनिजीने व्यवहार कहके उसकी उपेक्षा की है. किन्तु यहां यह प्रश्न होता कि सूत्रोंमे जिनपूजा यदि व्यवहार मात्रही होती तो आत्माके लिये हित, सुख, क्षमा और मोक्षके लिये क्यों कही गई? क्या धर्मसे अतिरिक्त कार्यभी हित. सुख, क्षमा और मोक्षके लिये हो सकते है? यदि जिनपूजासे देवोंको कुच्छभी सिद्धी न होती. एवंच उसमें केवल पापही समझते तो वे दिव्य देव सबंधी सुखोंको छोडकर क्यों जिनपूजामे प्रवृत्त होते? अरे! सम्यक्त्वी देवतो तीन ज्ञान सम्पन्न होते है, अपनी तरह मूर्खतो हैंही नही! यदि सम्यक्त्वी देवोंका यह व्यवहार है तो क्या सम्यक्त्वी

श्रावकोंका व्यवहार नही हैं? श्रावकको जिनपूजाका निषेध किस सूत्रमे किया हैं? तीर्थंकरोंके पांचोही कल्याणकोंमें ६४ इंद्रोका आकार जिनमहिमाका करना, आपकी समजसे तो उनको उसमे कुछभी लाभ नही होता होगा? यदि श्रावकोंका आरंभ जन्म व्यवहार नही है; तो फिर क्यों आरंभ जन्य दीक्षामहोत्सव करते हैं? क्यों मुनियोंके मृत कलेवरोंको बडे जलूससे निकालकर अग्निसंस्कार करते हैं? अपने दर्शनके लिये क्यों हजारों श्रावकोंका जत्था एकत्रित करते हो? क्या उसमें महान् आरंभ नही होता? उनके आने जानेकी क्रियायें किसको लगेगी? क्या तीर्थंकरोनेभी अपनी तपस्याकी पूर्तिमें समाजको एकत्रित कियाथा? अरे! बोद्ध धर्मका प्रतिपालक सम्राट् अशोक "बहोत समाजको एकत्रित करनेमें अधर्म समजता था फिर जैनधर्म इसको कैसे धर्म समजेगा? जरा इस परभी ख्याल किया है? मंडप बंधाय कर व्याख्यान देना, क्या ये सब आरंभके कार्य नहीं है? क्या इस वर्ष घोरनदीमें सदर सडक पर मुनिजीके उद्देश्यसे मंडप नहीं बांधा गया था? और उसमें हमारे अनुवादक मुनिमहाशयजीही बेठकर व्याख्यान देते थे. ३२ सूत्र छपवाए क्या उसमें आरंभ नहीं हुवा? बिहार करने में क्या हिंसा नहीं होती? यदि कहेंगे कि

धर्म के इरादेसे वह पाप नहीं लगता, और जैन धर्मकी प्रभावना जिसमें हो, उस कार्यमे महान्लाभ है, और ऐसे कार्योंके लिये जिनाज्ञा है, तो जिनपूजाभी तो सूत्रोक्त जिनाज्ञा ही है. फिर इसके लिये क्या पिच्छे हटते हो. यह तो सूत्र विहित विधान है. इसके न माननेमे उत्सूत्र भाषण रुप महान्पाप के भी अधिकारी होना पडता है, यदि इन्द्रोंका यह जीत आचार ही मान लिया जाय तो उनको निर्वाण कल्याणकमे शोक और अन्य जन्मदीक्षा केवलादिकल्याणकोमें हर्ष होनेका कारण क्या था ? देखो जंबुदीप्रज्ञप्ती सूत्रके पृष्ट २० में भगवान् ऋषभदेवजी के निवार्ण होने के बाद उनके शरीरको साश्रुनेत्रोंसे इन्द्रोने उठाया था. तद्यथा णिरानंदे अंसुपुण्णनयणे तित्थयर सरीरयं तिक्खुतो आयाहीणं पयाहीणं करेई. निरानंद अश्रु पूर्ण नेत्रोंसे तीन प्रदक्षिणा देकर भगवान्के शरीरको उठाया, यदि इन्द्रोका यह केवल व्यवहारही होता, और तीर्थंकरोंके प्रति पूज्य भाव न होता, तो कभी अश्रु न गिरते, और न शोकही करते, अरे! जिन्हकी तिर्थंकरोंके प्रति एवंच उनके आगममय वचनोपर अनन्य श्रद्धापूर्वक भक्ति है, उन्हीका वास्तविकमें सम्यक्त्व निर्मल है और वेही एकदिन सिद्ध बुद्ध होगे, और वेही जिनाज्ञाके

आराधक हो सकते है. **तमेव सच्चं निस्संकजं जिणेहिं पवेईयं**, वही निःशंसय सत्य है जो तिर्थंकरोने प्ररूपणाकी है. अस्तु अब सम्यकृत्वी श्रावकोंकाभी जिनपूजा करना कर्तव्य है. यहभी सूत्रोसे स्पष्ट हो रहा है. सूत्र उपासक दशांगके पृष्ठ २५ मे आणंद श्रावकजीने निरतिचार पूर्वक शुद्ध सम्यकृत्व प्रतिपालनके लिये वीरप्रभुके समक्ष यह अभिग्रह धारण कियाथा कि **नो खलुमें भन्ते कप्पई अज्जप्पभई अण्ण-उत्थिया देवयाणिवा अन्नउत्थिय रिग्गहिपाणिवा अरि-हंतचेतईयाइं वंदित्तएवांणमंसित्तएवा**-इस सूत्रका अर्थटीका-पे इस तरहसे किया है, **नो खलु इत्यादि नो खलुमम भदंत, भगवन्! कल्पते पुज्यते अद्यप्रभृति इतः सम्यक्त्व प्रतिपत्ति दिनादारभ्य निरतिचार सम्यक्त्व परिपालनार्थ तज्जनां आश्रित्य अन्नउत्थिएत्ति जैन यूथाद्यन्यत्यूथं संधान्तरं तीर्थांतर मित्यर्थः तदस्ति येषांतेऽन्ययूथिकाश्वरकादि (परिव्राजकाः) कुतीर्थिकास्तान् अन्ययूथिकं दैवतानि वा हरिहरादीनि अन्ययूथिक परिगृहीतानि अर्हच्चैत्यानि अर्हत्प्रतिमालक्षणानि यथाभौत परिगृहीतानि वीरभद्र महाकालादीनि वन्दितुं वा अभिवादन कर्तुं नमस्यतुं वा प्रणामपूर्वकं प्रशस्त ध्वनिभिर्गुणोत्कीर्तनं कर्तुं तद्भक्तानां मिथ्यात्वस्थिरीकरणादिदोषप्रसंगादित्यभिप्रायः।**

भावार्थ—हे पूज्य ! आजसे मेरेको अन्यधर्मी चरक परिव्रा-जकादि संन्यासियोंको, व हरिहरादि अन्यदेवोंको, एवंच अन्यधर्मीयोंने ग्रहण कर रखी. जिनदेवके नामसे प्रसिद्ध न होकर अन्य किसी देवके नामसे प्रसिद्धिमे आई हूई जिनप्र-तिमाको मुझे वंदना नमस्कार करना कल्पता नही है, अर्था-पत्ति न्यायसे स्वयं सिद्ध हो रहा है कि जैन संघको मान्य जिनदेवके नामसे प्रसिद्ध जिनप्रतिमाही मुझे वंदना नमस्कार करनेके योग्य है. अन्यगृहीत जिन प्रतिमा कोन मानने का कारण टीकाकार ही लिखते है—वहां जाकर वंदना नम-स्कार करनेसे एवंच प्रशस्त ध्वानिसे गुणकीर्तन करनेसे उनके भक्तोको मिथ्यात्वादि दोषोमें स्थिरता का कारणभूत होगा ! देखो ! यह लोगभी हमारे देवोंको भजते है. कुदेवको भजना जैनशास्त्र के विरुद्ध है. इत्यादि अनेक दोषोंकी उत्पति होगी, यही सम्यक्त्वमें भांगाका कारण है इसतरहसे सूत्र और टीकाका अर्थ ठीक २ मिलान होनेपरभी दुराग्रहवश असंबद्ध सर्वथा सूत्र के विरूद्ध मुनिजीने अर्थका अनर्थ कर सरासर संसारको धोखेमें डाला है ! प्रथम आपने यह चोरीकी है कि सूत्रमें “अरिहंत चेईयाइं” यह अनेक प्राचीन अर्वाचीन प्र-तोमें पाठ रहनेपरभी तथा टीकामेंभी जिसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है; यदि यह अर्वाचीनही पाठ होता तो टीकामे

कैसे उल्लेख होता! तथापि सूत्रचोरीके महान् पापकी उपेक्षा कर स्वार्थ सिद्धिके लिये **अरिहंत** यह पाठ निकालकर केवल **चेइयाइं** इतनाही मात्र पाठ दिया हैं, यह कितनी बडी चोरी हैं, अपसोस! अपसोस!!

आपने उपरोक्त मूल सूत्रका अनुवाद भी सूत्र और टीकासे सर्वथा विरुद्ध कियाहै. आप लिखते है "**अन्य तिर्थीयोंने ग्रहण किये जैनके–चैत्य–साधु भ्रष्टाचारीको वंदना नमस्कार करना कल्पे नही.**" पाठकगण! सोचे कि, यह सुत्र और टीकासे कितना विरुद्ध अर्थ है. **अरिहंत** का आपने **जैन** अर्थ, और **चैत्य** शद्बका साधु अर्थ किया है. और भ्रष्टाचारी यह विशेषण अपनी तरफसे लगाया है, यह कितनी स्वच्छंद वृत्ति है! एवंच गणधरोंके वचनोंको पददलित करना यहभी कितना बडा जुल्म है! इसको विद्वान् वर्गही स्वयं सूत्र और टीकापरसे विचार लेवे. प्रथम "**चैत्य**" शब्द "**साधु**" अर्थका वाचकही नही है, क्यों कि हेमकोषमें चैत्य शब्दके इतने अर्थ किये हैं "चैत्यं जिनौकस्तद्बिंबं चैत्यं जिनसभातरुः" अर्थात् **जिनमंदीर, जिनप्रातिमा, समवसरण** मे रहे हुवे **वृक्षको,** इतने अर्थका वाचक चैत्य शब्द है. फिर चैत्य शब्दका साधू अर्थ किस शास्त्रके आधार से कर रहे है.

एवंच चैत्य शब्द नपुंसकलिंगवाची होनेसे इसको साध्वीके विषयमें कैसे उपयोग करेंगे? किंबहुना किसीभी सूत्रमें साधूसाध्वीयोंको चैत्य शब्दसे नही पुकारा है. किन्तु सर्वत्र "निग्गंथाणवा निग्गंथीणवा" "साहुव साहुणी वा" भिक्खुवा भिखुणीवा इन शब्दोसे पूकारा है. किन्तु कहींभी साधुओंको चैत्यं वा चैत्यानिवा ऐसा किसी सूत्रमें नही कहा. वीर प्रभुके १४ हजार साधू कहे हैं किन्तु १४ हजार चैत्य नही कहे हैं. आचारांगजी में सर्वत्र साधूओंको उपरोक्त शद्वोंसेही संबोधन किया है. किन्तु चैत्य शब्दसे नही. एवंच भगवतीसूत्रमें चमरेंद्र के आलावे में " अरिहंते वा अरिहंत चेइयाणि वा अण गारेवा " इसमें अरिहंत अरिहंतोकी प्रतिमा और अण-गार, यह तीन्होंही अलग अलग निर्देश किये है. यदि चैत्य शब्द साधू अर्थका वाचक होता, तो अणगार यह पद देने की क्या जरूरत थी? बिगर आधारकेही चैत्य शब्द का साधु अर्थ कौन मानेगा ? मुनिजीने जहां जहां चैत्य शब्द का अर्थ साधु किया है, उसको यदि शब्द और कोष के यथार्थ जानकार पुरुष देखेंगें तो मालूम होगा कि उनका किया हुवा अर्थ विभक्तिसहित वाक्य योजनामें किसी तरहसेभी नही मिलता है. जब सर्वत्र देवयं चेइयं पज्जु-

वासामी एसा पाठ है उस ठिकाणे **चेइयं** शब्दका क्या अर्थ करेगे? यदि साधु अर्थ करेगे, तो यह उपमा दाढा साथ अघटित है. यदि ज्ञान अर्थ करेगे तबभी दाढा के साथ अघटित है. इस लिये **चेइयं** के माने जिनप्रतिमा होनेसे जिनप्रतिमा के समान जिनदाढाये वंदनीय पूजनीय है. यही अर्थ ठीक २ घट सकता है. एवंच पूर्वाचार्योंनेभी यही **चेइयं** शब्दका अर्थ किया है, तद्यथा — भगवती सूत्र श. १ उ. १ टिकाकार श्रीमद भयदेवसूरिजी महाराज फर्मा रहे हैं "**चित्तेर्लेप्यादि चयनस्य भावः कर्मवति चैत्यं संज्ञा शब्दत्वाद्देवबिंबं तदाश्रयत्वात्तद् गृहमपि चैत्यं" अर्थात् "चैत्य"** माने देवप्रातिमा तथा प्रतिमाका आश्रयभूत होनेसे उस घरकोभी चैत्य कहते है, जिसकोकि "**मंदिर**" कहते है, इतने सबल प्रमाणोंके होनेपरभी मुनिजीकी मतान्धवृति को तो देखिये, कि पूर्वाचार्यकृत अर्थोंपर एवंच सूत्रार्थकी तरफ उपेक्षा कर, एक नवीनही स्वकपोल कल्पित एवंच पूर्वापर अर्थके साथ जिसकी संगतिभी नही मिल सकती, एसा अर्थ कर अपनी अलगही खिचडी पकाई है! किन्तु मुनिजीको इतना तो ख्याल करना था, कि मेरा शास्त्र विरुध्ध दुराग्रह कहांतक विद्वान्वर्गके सामने टिक सकेगा. एवंच मनकल्पित अर्थोंसे महान्

पुरुषोंके आशयोंको पद दलित करना, यह कितना भारी पाप होगा. मुनि होकर जरा पापसे तो डरना था! फिर अन्य तीर्थी लोग जैन साधुको कैसे ग्रहण करेगे? क्यों कि सूत्रमें **परिगहियाणि** इसका संस्कृत में "परिगृहीतानि" होता हैं. जिसका अर्थ ग्रहण कर रखे, यहां **चेइयाइं** यह बहुवचन है, और **परिग्रहीतानि** यहभी बहुवचन है. आप एकवचनसे अर्थ कर रहे हैं. खरा एकवचन बहुवचनकाभी ख्याल करना था. **अन्नउत्थिय परिगाहियाणी अरिहंत चेइयाणि** इस सूत्रका अर्थ अन्य धर्मीयोंने स्वदेवबुध्या ग्रहण करी हुई अरिहंतोंकी प्रतिमायें यह तो सूत्र और टीकासे ठीक २ मिल रहा है. एवंच युक्तियुक्त हृदयंगम हो रहा है. क्यों कि अन्यधर्मी परिव्राजकोंकोव अन्यहरिहरादिदेवोंको अन्यधर्मीयोंने स्वदेवबुध्या ग्रहणकर रखी. एवंच अन्य देवकेही नामसे प्रसिद्धिमे आई हुई जिनप्रतिमा इन तीनोंही के लिये वंदना नमस्कार करना कल्पेनही मुनिजीने यहां **अरिहंत चेइयाणि** इसका "अरिहंतके साधु" यह जो अर्थ किया है वह सर्वथा शास्त्रविरुद्ध एवं अघटित है. भला अन्यधर्मी जैन साधुको कैसे ग्राहण कर रखेगे? क्या पकडकर? उसमें मुनिकी क्षतिभी क्या है, उसमे सम्यक्त्वका भांगाभी कैसा है.

इस लिये यहांपर अन्य हरिहरादि देवोंकी प्रतिमाके साथ अन्य गृहीत जिनप्रतिमाही युक्तियुक्त है. किन्तु "साधु" इस अर्थकी किसी तरहसेभी संगति नहीं हो सकति, प्रत्यक्षमेंभी हम देखते है कि जगन्नाथजी, पंढरपूर आदि महान् प्रसिद्ध तीर्थ पूर्व कालमें जैनोके तीर्थ थे, अभीतकभी जगन्नाथजी की मूर्ति अन्दरसे (याने खोलीके भीतर) जिन प्रतिमा है, इसी तरह पंढरपूर बदरीकाश्रममेभी जिनप्रतिमा है. जिसका विशेष खुलासा पार्श्वनाथ चरित्रमें है, किन्तु आज वे जिनप्रतिमाऐं होने पर भी तीर्थंकरोंके नामसे प्रसिद्ध न होकर अन्यदेवो के नामसे जगतमें प्रसिद्ध हो रही है. जिससे ही जैन संघ को आज वे प्रतिमाये मान्य न रही, इसी आशयका पोषक ही यह सूत्र पाठ है. इस लिये सत्य सनातन पथपर आईए, कुपथमें उतरने पर अनेक कांटे लगते है. यदि इतने परभी आपको संतोष न हुवा हो, तो लीजिये उवाईसूत्रमें अंबड श्रावकके अधिकार में औरभी विशेष सूत्रमें खुलासा कर दिया है. अंबड परिव्राजकने निरतिचार पूर्वक सम्यक्त्व प्रतिपालन के लिये यह अभिग्रह धारण किया है— **अंबडस्सणं परिवायगस्स नो कप्पइ अण्णउत्थिएवा अण्णउत्थियदेवयाणिवा अण्णउत्थियपरिग्गहियाइं अरिहंतचेइयाइं वा वंदित्तएवा नमंसित्तएवा णण्णत्थ अरिहंते वा अरिहंतचेईआणिवा**

इसका टीकामें ऐसा अर्थ किया गया है. अन्ययूथिका—अर्हत्संघापेक्षया अन्येशाक्यादयः चेइयाइंत्ति-अर्हच्चैत्या नि जिन-प्रतिमा इत्यर्थः णणूणत्थ अरिहन्तेवत्ति न कल्पते इह योऽयंनेति प्रतिषेधः सोऽन्यत्रार्हद्भ्वः अर्हतो वर्जयित्वेत्यर्थः सहिकिल परिव्राजक वेषधारकोऽतोऽन्ययूधिकदेवतावंदनादि निषेधे अर्हतामपि वंदनादि निषेधोमाभूदिति कृत्वा णणूणत्थे-त्याद्यधीतं" यहां स्पष्ट अर्हच्चैत्यका अर्थ जिनप्रतिमा किया है, और यह भी खुलासा कर दिया कि हरि हरादि अन्यदेवोको एवंच अन्य धर्मीयोंसे परिगृहीत जिनप्रतिमाके निषेध के साथ जैनसंघ को परममान्य अर्हन्तोकी प्रतिमा का भी निषेध न हो जाय इसके लिये सूत्र में णण्णत्थ अरिहतेवा अरिहंत चेइआणिवा इसमे णण्णत्थ (नान्यत्र) यह पद दिया है यहांसे जिनप्रतिमाका पूजन स्वयं सूत्रकारनेही समर्थ न कर दिया है, इस पर से तटस्थ विद्वानुवाचक वर्ग इन दोनों सूत्रोंके पाठ पर से विचारे कि सम्यक्त्वमूल वारहव्रत को उचरनेवाले जब आणंद श्रावकादिदशश्रावक और अंबड श्रावक प्रतिदिन जिनप्रतिमा की पूजा करते थे तब अन्य श्रावक करें! इस में क्या आशंका है ? और यह अभिग्रह भी किसी अन्य छद्मस्थ मुनिसे नहीं लिया था किन्तु सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् वीर

प्रभूसे लीया था, एवंच विद्वान् वर्ग विचारेंकी मुनिजी का यहां "चैत्य" शब्द का "साधु" अर्थ करना कितना मिथ्या और भ्रममूलक है, किंबहुना मुनिजी भी अन्यत्र अपने निश्चितार्थ पर भी तो स्थिर न रहे, किन्तु "चैत्य" शब्द का "ज्ञान" अर्थ किया है, वह भी मन कल्पित ही, क्यों कि चैत्य शब्द का ज्ञान अर्थ सर्वथा शास्त्र विरुद्ध है यह भी आप की अपूर्व विद्वत्ता की कसोटी है, देखो भगवतीजीमें शत. २० उ० ९ पृ. २४८८ में जहां जंघाचारण विद्याचारण मुनियोंकी उर्ध्व और तीर्यग् गति विषयक प्रश्न चला है, तद्यथा—जंघाचारणस्सणं भंते! तिरियं केवइए गतिविसए पन्नते? गोयमा? सेणं इत्तो एगेणं उप्पाएणं रुअगवरे दीवे समोसरणं करेइ, करइत्ता तहिं चेइआइं वंदई वंदइत्ता तओ पडिनिअत्तेमाणे बीइएअं उप्पएणं नंदीसरेदीवे समोसरणं करेइ तहिं चेइआणं वंदइ वंदइत्ता यह माग च्छइ इह चेइयाइं वंदइ भावार्थ हे पूज्य? जंघाचारण मुनिका तिर्यग्गमनका विषय कितना है? हे गौतम? जंघाचारण मुनि यहांसे एक उड्डान में रुचकवर नामके तेरहवे द्वीप मे जाकर वहां के शावते जिन मंदिरोंमें रही हुई शाश्वती जिनप्रतिमाओंका वंदन करे पीच्छे लोटते हुवे दुसरे उत्पातमें नंदीश्वरद्वीपमें ठहरे वहां-के शाश्वते जिन मंदिरोंमें रही हुई जिनप्रतिमाओंका वंदन

करे, वहांसे तिसरे उडानमें भरत क्षेत्रमें आवें, और यहांकी अशाश्वती जिनप्रतिमायोंकी वंदना करे—इसी तरह उर्ध्वगमन का विषय बतलाया है, उसमें भी शाश्वती अशाश्वती जिनप्रतिमाओंकी वंदना करना कहा है, आगे विद्याचारण मुनियोंके तिर्यग्गमन विषयमें भी जिनप्रतिमाओंकी वंदना करनेका उल्लेख है, नंदीश्वरद्वीपमें ५२ गिरीयोंका वर्णन समवायांगजीमे और जीवाभिगमजीमें उल्लेख है, जिन्हकेनाम यह है-४ अंजनगिरि १६ दधिमुख पर्वत ३२ रतिकर पर्वत. कुल ५२ गिरि पर्वत है, और वहां ६४ इन्द्र सपरिवारके साथ भिन्न २ गिरियोंपर अष्टान्हिका महोत्सव करते है, जिसका लेख जंबुदीप्रज्ञप्तिसूत्रमे ऋषभदेवजीके निर्वाण महोत्सवमें स्पष्ट उल्लेख हैं, इन अंजन गिरियोंपर सिद्धायतनोंका (जिन मंदिरों) का उसमें रही हुई शाश्वती जिनप्रतिमाओंका वर्णन ठाणांगसूत्रके ४ ठाणोमें है, तद्यथा पत्र ३८६ में " **तेसीणं अंजणग पव्वयाणं बहुसमरमणिज्ज भूमिभागा पन्नता तेसीणं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए चतारि सिद्धायणा पन्नता** " भावार्थः—उस अंजनगिरी पर्वत पर विस्तृत समान रमणीक भूमिके मध्य भाग में चार सिद्धायतन कहे है, इसीमें आगे के सूत्रमे इन्ही मंदिरोंका विस्तारसे वर्णन है आगे पत्र ३८८ में—**तासीणं**

मणिपेढियाणं उवरि चत्तारिं चेइयथूभा पन्नत्ता, तेसीणं चेइयथूभाणं पत्तेयं पत्तेयं चउद्दिसिं चत्तारि मणिपेढियाओ पन्नत्ता, तासीणं मणिपेढियाणं उवरिं चत्तारि जिनपाडिमाओ सव्वरयणामइयाओ सपलियंकणिसण्णाओ थूभाभिमुहीओ चिठंति, तंजहा–रिषभा, वद्धमाणा चंदाणणा, वारिसेणा–अर्थ. उन सिद्धायतनोंमें मणिपीठिकायें हैं, उन पर चार चैत्यस्तूप है, प्रत्येक चैत्यस्तूपके चारों दिशाओंमें चार चार मणिवेदिकायें हैं. उन मणिवेदिकाओंपर चार जिनप्रतिमायें हैं, ये सब रत्नमय पद्मासनमें बेठी हुई है, इस तरहसे सूत्रोंमें नंदीश्वर द्वीपका वर्णन किया हैं एसाही अन्य गिरयोंपरभी भाव है वहीं जंघाचारण विद्याचारण मुनिइन्हीं तीर्थोंकी यात्रा करनेको जाते है, अन्यथा वहां जानेकी क्या जरूरत है? निष्कारण मुनियोंका जाना होता नहीं! इसपरसे एक बालक भी समझ सकता है, कि मूर्तिपूजामें जब महत्व होगा तब ही तो लब्धीवंत मुनिभी यात्राको गये, विगर महत्व के ही इन्द्रादि देव क्यों पूजने लगे, एवंच यह करणी यदि महत्व की न होती तो आत्मा के लिये हित, सुख, क्षमा और मोक्ष के लिये, एवंच जन्मांतर मे साथ देनेवाली, कभी भी सूत्र में वर्णन न की जाती!

तथापि पूर्वोक्त भगवती के सूत्र पाठपर मुनिजीकी उन्मत्तावत् कि हुई उत्सूत्र प्ररूपणा तो देखिये, उपरोक्त पाठ में "तहिं चेइआंई वंदइ" वहां के जिनमंदिरो को वंदना करे, यह स्पष्ट सूत्र का अर्थ होनेपर भी कपोलकल्पित चैत्य शब्द का ज्ञान अर्थ ठहरा के लिखते हैं—**जंघाचारण विद्याचारण मुनिवहांजाकर जिनेन्द्रके ज्ञान का गुणानुवाद करें अर्थात् धन्य है अपका ज्ञान आपने फर्माया वैसा ही है**— पाठकगण सूक्ष्म दृष्टया विचारे कि **चेइआई** संस्कृतमें **चैत्यानि** यह बहुवचन है, नपुंसकलिंग वाची यह शब्द है और कर्म में द्विताया का प्रयोग किया है. जिस का अर्थ है चैत्यों को, **तहिं** का संस्कृतमें "तत्र" वहां, "वंदई" वंदते, वंदना करते है, प्रथम तो "चैत्य" शब्द ज्ञान वाचक ही नहीं, तथापि थोडे देरके लिये मान भी लिया जाय तो यहां बहुवचन क्यों दिया ? जरा व्याकरण का भी ज्ञान है कि नहीं ? फिर निष्कारण मुनि वहां क्यों गये ? क्या तीर्थंकरों के वचन पर श्रद्धा नहीं थी, कि जिस को देख कर श्रध्धाभई, या "ज्ञानकी वंदना" के विषयमें विशेष खुलासे का कोई सूत्र पाठ दिखलाईये उपरोक्त ठाणांगके जंबूदीप्रज्ञप्ति के पाठ के साथ हमारे इस अर्थ की सुसंगति

भी ठीक २ होरही है एवंच चैत्य शब्द का "ज्ञान" यह अर्थ किस आधार पर से कर रहे है, किसी सूत्र में ज्ञान के अधिकार मे ज्ञान को चैत्य शद्व से प्रयोग किया हुवा एक भी उदाहरण बतलाइये ? बतलावेंगे कहां से ! अरे ! ४५ ही आगमोंमें कही भी ज्ञान को चैत्य शब्द से नहीं पूकारा है, किन्तु सर्वत्र "नाणं पंचविहं पन्नतं" कहा हे किन्तु "चैत्यं पंचविहं पन्नसं" ऐसा तो कही भी नहीं कहा, जहां ज्ञानवंत मुनियों का अधिकार चला है वहां सर्वत्र मुनियों को "मईनाणी" "सुअनाणी" "ओही-नाणी "मणपज्जवनाणी" "केवलनाणी" एसा पाठ है, किन्तु "मईचैत्यी" "सुअचैत्यी" "ओहीचैत्यी" "मणपज्जव-चैत्यी" केवलचैत्यी, एसा किसीभी सूत्रमें पाठ नही है, जहां कहीभी किसी मुनिको या तिर्थकरोंको ज्ञान उत्पन्न हुवा है, वहां अवाधिज्ञान मनपर्यवज्ञान या केवलज्ञान उत्पन्न हुवा ऐसा पाठ हे किन्तु कहीभी "अवाधिचैत्य" "मनपर्यवचैत्य" "या केवलचैत्य" एसा उल्लेख नही है, और जैन कोष मे भी चैत्य शद्व ज्ञानवाचक है यह कही उल्लेख नही हैं ! किन्तु "चैत्यं जिनौकस्ताद्विंबं" इसपर से तटस्थ विद्वान् वाचक गण समझ सकते है कि मुनिजीने सर्वथा सूत्र वि-

रुद्ध मिथ्या अर्थ करके गणधरोंके वचनोंकी अवज्ञा की है, मुनिजीनें प्रथम तो चैत्य शद्व का साधु अर्थ किया है और इहां आकर ज्ञान अर्थ किया, देखिये! मुनिजीकी कितनी मनमानी प्रवृत्ती है! किंबहुना मुनिजीने "**पुण्णभद्देचेइए**" अर्थात्– "**यक्षका मंदिर**" इस अर्थमें न तो आपने चैत्यशद्वका साधु अर्थ ही किया है, और न ज्ञानही अर्थ, किन्तु "चैत्य" शद्वका हमारा ही अभिप्रेत अर्थ "मंदिर" कीया है, यह अर्थ हम दोनोको जैसेमान्य है, वैसाही उदाहरण चैत्य शद्वका प्रयोग साधु और ज्ञानके विषयमे किया हुवा क्यों नही बतलाते! अरे यह सूत्रोंका अनुवाद है आया खिलवाड किया गया है! **नंदीश्वरद्वीपमें ज्ञानको वंदना की** और यहां आकर फिर ज्ञानको वंदना की यह क्या? अरे! जिन मंदिर और जिनप्रतिमाओंका अस्तित्व तो स्वयं आपनेभी ठाणांग सूत्र के ४ थे ठाणेके हिन्दी अनुवादमें करचुके है! फिर यहां तीर्थंकरोंके ज्ञानकी प्रशंसा कारना, यह अर्थ किस सूत्रके आधारपर कर रहे हैं, सूत्रमें तो केवल **तहिं चेइआइंवंदइ** इतना ही पाठ हैं, और वंदई का अर्थ वंदन करना है किन्तु प्रशंसा करना यह कहांसे आप लिखते है, पाठकगण इसपरसे समझ गये होगें कि यह केवल मुनिजीने स्वपंथके बचावके लिये ही उत्सूत्र प्ररूपण किया है, किन्तु अपसोस इसी बातका है

कि अपनी आत्मा की तरफ कुछभी लक्ष्य नहीं दिया, यही तो मत ममत्व है, इतने पर भी आप शांत न हुवे किन्तु ज्ञाता सूत्रमें सती श्राविका, द्रौपदीजी के अधिकार में भी अनेक कुतर्के करके जिन पूजाको निषेध करनेके लिये अनेक कोशिसे की है, किन्तु आपही अपनी लेखनीसे स्वयं बंध गये है. आप लिखते है कि **मिथ्यात्वीयो मे जिन पुजाकी भावनाये कैसे उत्पन्न हो सकती है? क्यो कि द्रुपद-राजा किसी प्रकारसे श्रावक अथवा सम्यक्त्वी सिद्ध नही होता तो उनके संतानमें ऐसी भावना कैसे आसके?** इससे तो यही निष्कर्ष निकला कि **जिन पुजाकी भावना सिवाय सम्यक्त्वीके मिथ्यात्वीमें नहीं हो सकती, जिन्ह में जिन पुजाकी भावनाये नही है वे सबही मिथ्यात्वी है**, यह सत्य अर्थ मुनिजीकी लेखनीसे ही स्फुट हो रहा है. भला सत्य भी कभी च्छिप सकता है? और हमभी मुनिजीके इस लेखको समर्थन करते है, ऐसे ही आप शनैः शनैः सत्य पथ पर आईये! पाठकगणके लिये यहां महासती श्राविका **द्रौपदीजीने १७ भेदे जिन पुजा** की उस विषयका पाठ ज्ञाताजीमें से निकाल कर उधृत करते है.

तयणं सा दोवई रायवरकन्ना जेणेव मज्जण घरे तेणेव उवागच्छइ से मज्जण घर मणुप्पविस्सइ ण्हाया

कयबलिकम्मा कयकोउय मंगलपायच्छित्ता सुद्धपावेसाइं वत्थाइं परिहियाइं मज्जणघराओ पडिणिक्कमई जेणेव जिणघरे तेणेव उवागच्छइ जिणघर मणुप्पविसइ पविस्सईत्ता आलोए जिणपडिमाणं पणामं करेइ लोमहत्थयं परामुसइ एवंजहा सूरियाभो जिणपडिमाओ अच्चेइतहेव भाणियव्वं जावधुवं डहइ धूवं डहइत्ता वामंजाणु अंचेइ अंचेइत्ता दाहिणजाणू धरणितलंसी निवेसेइ निवेसेइत्ता इसिपच्चुणमइ करयल जावकट्टु एवं वयासी नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं जाव संपत्ताणं वंदई नमेसई जिनघराओ पडिनिक्कमई उस समय द्रौपदी राजवरकन्या जहां स्नानगृहथा वहां आई, और स्नान गृहमें प्रवेशकर स्नान किया और गृह मंदिरमें पूजा कर और मंगलीक निमित्त तिलक वगैरेह करके शुद्ध वस्त्र पहेरा और स्नान गृहसे निकलकर जिनमंदिरमें आई जिनप्रतिमा को देखते के साथ प्रणाम नमस्कार किया, और मोर पिच्छीने जिनप्रतिमाको पूंज कर जैसे रायपसेणीजीमें १७ भेदे जिनपूजा सुर्याभ देवने की थी वैसेही पूजा सतीश्राविका द्रौपदीजीने की, बाद धूप खेकर नमस्कारपूर्वक ७।८ पांव पीच्छे हटकर अपनी जिमनी जानुको नीचे रखकर तथा वायें गोडेको उंचाकर हाथ जोड तीन-

बार मस्तकपरसे आवर्तन कर विनयके साथ कुन्छ सीर नमाय हात जोडकर स्तवना करने लगी, नमस्कार हो अरिहंत भगवंत को, जो कि धर्मके आदि प्रवर्तक है, चतुर्विध संघरूप तीर्थके स्थापन करनेवाले, इत्यादि समस्त नमोत्थुणं के पाठसे अरिहंतोकी स्तुतिकर वंदना नमस्कार किया, और जिनमंदिरसे निकली. इस ज्ञाता सूत्रके पाठ परसे बुद्धिमान् समझ सकते है कि सतीश्राविका द्रौपदीजीकी तीर्थंकरोंके विषयमें कितनी अनन्य भक्ति थी! जिसने उस विवाह प्रसंगमेंभी पूज्य अरिहंत देवको न भूली. प्रथम पूजा कर पीच्छे स्वयंवर मंडपमें गई है, पाठक गण जरा लक्ष्यमेलेवें कि सूत्रमें जिणाघरे याने जिनमंदिर मे गई एसा उल्लेख है, इससे उस समयमेंभी समस्त जैन संघ मूर्तिपूजकही था, यह जिनमंदिरके अस्तित्वसे सिद्ध होरया है, एवंच द्रौपदीजी श्रीनेमिनाथ स्वामीके शाशन मे हुई है. इससे श्रीनेमिनाथस्वामीके शासनमेभी मूर्तिपूजाका अस्तित्व सिद्ध हो रहा है, वर्तमान में भी प्रत्यक्ष देखते है कि जिनपूजा के लिये ही जैन संघ जैनमंदिरोको बनाते हैं. जैन मंदिर केवल एक व्यक्ति के लिये तो होताही नही किन्तु समाजको लक्ष्यमे लेकरही बनाया जाता है, हैं. उपरोक्त सूत्र पाठको उडानेके लिये मुनिजिकी बालचेष्टाको

तो देखिये आप लिखते है कि — **संवत् १६१५ के साल की प्राचीन प्रतमें इतनाही केवल पाठ है, "जिणपडिमं अच्चणं करेइत्ता" २ इससे इतना ही पाठ प्राचीन है, उपरोक्त सूत्र पाठ प्रक्षेपक है, ऐसा मालुम होता है,** इस तरह से आपने "सूत्र पाठ" को प्रक्षेप कर मूल पाठ से इस पाठ को निकाल कर नीचेकी टिप्पणी में दीया है. यह मुनिजी का कितना अन्याय है? क्यों कि उपरोक्त सूत्र प्रक्षेपक पाठ नहीं है. किन्तु अत्यंत प्राचीन है, देखो. जेसलमेर, पाटण, काशी आदि भंडारों में की १३००—१४०० के संवत्सर की लिखी प्रतोमें भी यह पाठ है, एवंच मुनिजी को यह भी ख्याल नहीं हुवा, कि सं. १६१५ के साल की प्रत के निर्दिष्ट काल से भी टीकाकार श्रीमद भयदेवसूरिजी का काल बहोत प्राचीन है, यदि यह पाठ प्रक्षेपक होता तो टीका में इस पाठ की विस्तृत टीका कैसे उपलब्ध होती? अरे! एक समर्थ महान् पूर्वाचार्य भी इस पाठ को प्रक्षेप करके टीका में उल्लेख नहीं करते, तव मुनिजी किस आधार पर से इसको प्रक्षेपक सिद्ध कर रहे है? यह सूत्र की अवज्ञा करना नहीं है तो और क्या है! जिनवाणी की अवज्ञा करनेवालेभी क्या जैनी कहलाते है? किंबहुना आपके निर्दिष्ट पाठ पर से भी जिनप्रतिमा पूजन

तो सिद्ध हो ही रहा है, इस तरह से आपके निर्दिष्ट दोनो ही पाठोंसे "जिनप्रतिमा पूजन" सिद्ध होने पर भी आप लिखते है—**द्रुपदराजा किसी प्रकार मे श्रावक अथवा सम्यक्त्वी सिद्ध नही हो सकता, तब उनके संतान में ऐसी भावना कैसे! इस से यहां जिनप्रतिमा के माने कुलदेव हो सकता है,** मुनिजी! आप "हो सकता है, ऐसा क्यों लिखते है? कुलदेव ही है ऐसा निश्चयात्मक वचन क्यों नही लिखते? मिश्रभाषा का क्यों व्यवहार करते हैं! प्रथम द्रुपदराजा सम्यक्त्वी नही था यह भी किस पर से लिखते हैं? जरा ध्यान सूत्रपर देवें कि **जिन-घर किसने कराया?** किसने प्रतिमा स्थापनकी? उसकी पूजा कौन करे! यदि इस परक्षणभर विचारे तो सिवाय जैन के अन्य कौन करता है! यह प्रत्यक्षही दीख रहा है! तब प्रत्यक्षसे बाधित विषयको सिद्ध करना यह कितना अयुक्त है? सूत्रमें तो कहीं भी यह उल्लेख नही है कि वह मिथ्यात्वी था! किन्तु जिन प्रतिमाके पूजन पाठ सेतो वह एवंच महासती द्रौपदी जी दोनोही परम सम्यक्त्वी सिद्धहो रहे है, क्यों कि सिवाय जैनोके अन्य कौन जिन प्रतिमाको पूजेगा और न प्रत्यक्षमे जिनप्रतिमाके नामसे पूजी जाती अन्य कोई देवकी प्रतिमाही देखनेमें आती है!

प्रत्येक जैनोंके आबाल वृद्धत कभी जिनप्रतिमाके नामसे जिन-राजकीही प्रतिमासमझते है, तथापि आपका कितना दुराग्रह है कि जिनप्रतिमाके माने कुलदेवकी प्रतिमा कहतेहैं किंबहुना सूत्रमें जिन प्रतिमाके सामनें नमोत्थुणं का पाठ कहा है. यह स्तुतिभि सिवाय अरिहंतोंके क्या कुलदेवोंमेभि घट सकती है? प्रत्यक्षमेंभि सिवाय अरिहंतके अन्य किसी देवके सामने नमोत्थुणं नही कहा जाता, द्रौपदीजीके सम्यक्त्वमे एवंच उनके जैनत्वमें यहभी सबल प्रमाण है कि इसी सूत्रमें यह अधिकार. आया हैं कि, जब कच्छुल्ल नारद अंतःपुमें आये हैं, उस समय द्रौपदीजीने उनको असंयती अव्रती समझकर उनको न तो कुच्छ आदर सन्मान किया, और नकुच्छ बोलीभी. एवंच धातकीखंडमें राजा पद्मरथके अंतः-पुरमें द्रौपदीजीका आमिल की तपस्या का करना, ये सब आचरण सिवाय जैनोंके क्या जैनेतरोंमेंभी घट सकते है! इतने सबल प्रमाणोंके होने परभी जिन प्रतिमाको कुलेदवकी प्रतिमा कहनायह कितना शास्त्रविरूद्ध युक्तिशून्य अर्थ है, कुलदेवकी प्रतिमा बतलावेंगे? अरे: जिसजमालीने केवल एक सूत्रपर अश्रद्धा कर स्वच्छंद वृत्तीसे केवल "चलमाने चालिए" इस सूत्रके विरूद्ध परूपण करने मात्रसेही धर्मका विराधक हुवा और आजन्मका आराधन किया चारित्रभी

निष्फल हुवा, फिर हमारे अनुवादक मुनिजी तो सूत्रके सूत्र गहप कर रहे हैं! न मालुम इसका क्या परिणाम होगा, सो ज्ञानिही कह सकते हैं! अरे जिन पूजा सम्बन्धी पाठोंको कहांतक छिपावेंगे, देखो आवश्यक सुत्रमें, वग्गुर श्रावकने पुरिमतालनगरमें श्री मल्लिनाथजीका मंदिर बनवायके प्रतिदिन पूजा करतेथे इसी सूत्रमें भरत चक्रवर्तीके बनाए हुवें श्री जिन मंदिरोंका अधिकार है. एवंच उदायन महाराज की प्रभावतीराणीणे मंदिर बनवायकर प्रतिदिन नाटकादिके साथ द्रव्य और भावसे पूजाकी, दशवैकालिकसूत्र बनानेवाले शय्यंभवसूरि जिनप्रतिमाको देख प्रतिबोधकों "पाये सिज्जभवं गणहरं जिन पडिमा दंसणेण पडिबुद्ध" सूगडांग सूत्रकी वृत्तिमें आर्द्र कुमारका जिन प्रतिमाको देख प्रतिबोध पाना महानिशीथ सूत्रमें श्री जिन मंदिर बनानेवाला श्रावक १२ मे देवलोक तक जावे. तद्यथा

काउंपि जिणायणेहिं मंडिय सव्वं मेयणिवट्टं
दाणाइ चउक्केण सड्ढोगच्छेज्ज अच्चुयंजाव न परं

आर्य रक्षित सूरिजीके उपदेशसे सम्प्रतिसम्राटने जिनमंदिरोंसे भारत भूमिको मंडित करदेना ओश वंशके संस्थापक श्री रत्नप्रभसुरीजीका ओशियेजी तीर्थमें शासन नायक वीर प्रभुकी प्रतिमाकी प्रतिष्टा करनी जिनके नीचे

स्वयं मूर्तिके उपासक थे भला बतलाइये उनके उपदेशोसे शासित ओसवाल जाति मूर्ति पूजासे कैसे विरोधकर सकते है. हेमचंद्राचार्येजीके उपदेशसे देशके भूपाल कुमारपाल माहाराजका अनेक मंदिरोंका निर्माण करना, सिद्धसेन दिवाकर सूरिजीकी उज्जैनीमें अवंतितीर्थ प्रकट करना. एवंच स्वामी दयानंद सरस्वतीने अपने सत्यार्थ प्रकाशमें लिखाहैकी मूर्ति पूजनकी पद्धती जैनोंसे वैदिकोने शिखी है, वीर भगवान के समकालीन बुद्धथे उन्होनेभी मूर्तिपूजनको महत्व दिया हैं. इस तरहसे शास्त्रिय और ऐतिहासिक दृष्टीसे देखे तो निःसंशय सिद्ध हो जाता है कि मूर्तिपूजाकी पद्धती अर्वाचीन नहीं है किन्तू प्राचीन कालसेही चली आरही है और अनेक महान् पुरुषोने जिसको महत्व दिया है इससे उसमें अवश्य महान् रहस्यभी रहा हुवा है. और शास्त्रोंमें धर्म रक्षाके लिये श्रावकको कहां रहना चाहिये यह भी स्पष्ट उल्लेख है देखो उत्तराध्ययन सूत्र वृत्तीमें-

कत्थवसेज्जा सड्ढो जइहिं सह जत्थ होई संयोगो
जत्थय चेइय भवणं अन्नेविजथ साहम्मी,

श्रावकको कहां रहना चाहिये! (१) जहां कि मुनिओंका हमेश संयोग होता हो, (२) जहां तीर्थंकर भगवंतो केजिन मंदिर हैं, [३] जहांपर अपने और भी साधर्मी

बंधु रहते हों. वहांपर श्रावकको रहना उचित है. इसपरसे मंदिर भी गृहस्थोकी धार्मिक स्थिरतामें अनन्य कारण भूत रहा हुवा है, एवंच व्यवहार सूत्रमें मुनिको अपनें पापोंकी आलोयणा जिनप्रतिमाके सामनेकरनेका भी पाठ है.

अब इससे जादा क्या प्रमाण दिया जाय. तटस्थ बुद्धिमानोके लिये इतनाही बहोत है, इससे प्रत्येक भव-भीरु श्रावकोको उचित है कि ऐसे मताग्रही गुरुओंके मायाबी जालमें न फसकर, तिर्थंकर भगवंतोंके उपदिष्ट सूत्रोंके एक एक वचनपर श्रद्धा रखकर अपनी आत्माका कल्याण करना उचित है, इसीमें श्रेय है, दुराग्रहमें सिद्धि नही है, यदि बुद्धि पाईहोतो तत्वकी विचारणा करोकि जिन पुजाका विधान प्राचीन है और अर्वाचीन आगम प्रमाणों से सिद्ध है. आया नही! रायप्रश्नीयादि सुत्रोंमें जिनपुजाका फल आत्माके लिये हित, सुख क्षमा, एवंच जन्मान्तरमें साथदेनेवाला, और अंतमे मोक्षतकको देनेका कहा है तब में क्यों विरुद्ध चल रहा हुं इत्यादि सुत्रपाठों परसे स्वयं निश्चयकर सत्यको स्वीकार करना उसीको हम वास्त-विकमे सम्यग्यज्ञानी श्रावक कहते हैं और वास्तविकमें ऐसी खोज करनेवालाही श्रावक जिनाज्ञाका आराधक होता है! किंबहुना आगमसूत्रोंमे जिन प्रतिमा संबन्धी सूत्रपाठोंके

खंडनमें वास्तविकमें जिनाज्ञाकाभी ही खंडन होता है, जिनाज्ञाको खंडन करकेभी अपनेको जैनी किस आधारसे कहेगे. अरे उत्सूत्र भाषणसेभी जब हम डरते नही फिर अन्य पापसे क्यां डरेगे! इसलिये मुनियोंमें भवभीरुता, हृदयकी सरलता होनी चाहिये. साथही जिनाज्ञाके परम प्रतिपालक होने चाहिये. क्योंकि मुनियोके वचन जगतके लिये परम विश्वसनीय एवंच परम श्रद्धेय होते हैं, क्योंकि सांसारिक प्रपंचोको त्यागकर जिन्ह मुनियोने लोकोत्तर मार्गको स्वीकार किया है और त्रिविध त्रिविध रूपसे जिन्होंने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, सुशील, अपरिग्रहत्व रुप पंच महावृतोंको धारण कर रखा है. भला उन्हके वचन संसारको क्यों अश्रद्धेय होगें? किन्तु जब ऐसे २ आचरण जगतके सामने आने लगते हैं. तब क्रमशः उनके महावृतोकी कसोटीके साथ उनके चिरस्थायी विश्वसनीय वचनोंपरभी जगतका क्रमशः अविश्वास होजाताहै! जिससे धर्मका प्रसार न होकर प्रत्युत वेही धर्मके ह्रासके कारणीभूत बनजाते है. इसलिये हमारे पूज्य मुनियोंका प्रथम यही कर्तव्य है कि अपने पांचों महाव्रतोंपर दृढ रहै और वीतराग प्ररूपित आगमोंका अक्षरशः सत्योपदेश दिया

करें जिससे उनकी आत्माभी तिरती है और उनके उपदेशोंसे अन्यजीवभी तिरजाते है. एवंच जिनाज्ञाके आराधक होनेसे जगतमें मुनिधर्मके महत्वकोभी चिरस्थायी रख सकते है. यदि मुनि होकर श्री हटवश आगम विरुद्ध प्ररुपणा करें तो उसके लिये भावदयाही लाना होगा! यदि सबही संप्रदायके मुनियोंमें परस्पर सौहार्दभाव होता, यदि आगम विरुद्ध प्ररूपणा करनेमें महानुपाप समजते, यदि पूर्णता: जैनसंघमें विद्यादेवीका साम्राज्य होता, यदि सत्यका पक्षपाती जैन संघभी होता तो मे निश्चयसे कह सकता हूं कि वीरकी अविचल छत्रछायामें रहनेवाले जैनोमें दिगंबर, श्वेतांबर उसमेभी मंदिरमार्गी, स्थानकवासी, तेरह पंथी आदि अनेक अवांतर भेद न पडते. और ईन कल्पितनामोंसे प्रसिद्धही न होते! और जैनोंमे ईर्षा, द्वेष, असहिष्णुता आदि दोषही न उद्भवते. यदि श्वेतांबर जैन संघभी ठीक २ आगम वचनोपर दृढ रहता एवंच उनमें सत्यग्राही चित्तवृत्ति होती तो आज श्वेतांबर जैनोंमे भी इतना मतभेद न पडता कि आज उसी मतभेदने इतना कुच्छ विराटरूप धारणकर लिया है कि एक होकरभी सर्वथा जैन संघ दो विभागमे विभक्त हो गया है कि इसपरभी क्या शाशनके शूभ चिंतकोंको कुच्छ ख्याल होगा! इसमें सिवाय शाशनकी अवनतीके

और कुच्छभी उन्नती नहीं है. किंबहुना इसी तुच्छ मत भेदके कारण ही जैन संघमें परस्पर चीरकालीन सौहार्द-भाव था वहभी नष्ट हो गया! और प्रतिदिन नष्ट होता ही जा रहा है. यह देख किसकु दुःख नहीं होगा! इसी भिन्नता व अविचारिताके कारणही परस्पर समाजमें प्रेमाश्रू के प्रवाह वहते नही! इसी मतभेदके कारणही संघमें एकता के भाव उदित होते नही!

किंबहुना शाशनदेव जैनसंघके आगेवानोंमें सत्यग्राही चित्तवृति उत्पन्न करो? जिससे च्छिन्नभिन्न हुई इस जैन-समाजमें पुनः प्रेमका श्रोत बहे, और एकदिन पुनः शाशनदेव जैनसंघका झलझलाट अभ्युदय करों यही अन्तिम प्रार्थनापूर्वक इस लेखकी पूर्णाहुति करता हुं. यह समालो-चनात्मक लेख द्रोहवश या अन्य किसी असदभावनावश नही लिखी गई है. किन्तु एक केवळ सत्य क्या है. इसको बतलानेके लियेही यह प्रयत्न है. लेखमें यही कोई अनुचित शब्दका प्रयोग हुवा मालूम हो तो उसके लिये अंतःकरण पूर्वक क्षमा प्रार्थी हुं. ॐ शुभंमस्तु.

वीर शाशनका एक भिक्षूक,

जैन यति हिराचंद्र.

शुद्धाशुद्धी पत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृ.	पं.
इत्थी चित्त मित्तिंन निसेविज्जं —	चित्तभित्तिंन निसिज्जाए	३	९
गत मोहाधिकारीणं —	गत मोहाधिकारीणां	८	१६
शुद्धौ —	शुद्धा	८	१७
चर्तूथ —	चतुर्थ ...	९	२१
गणेमे —	ठागेमें ...	९	२१
चरणठ्ठयाण —	चरणठयाए ...	१३	१
दारा —	द्वारा	[illegible]२	११
अगल —	अलग ...	२६	१०
जिणस्स-कहा ओ —	जिणसकहाओ ...	३०	१५
पुग्द्रल —	पुद्गल ...	३१	१०
चइयं —	चेइयं	३७	११
चुश्चया —	चूचुक	४५	१३
गुंथी —	ग्रंथी	४५	१७
कुचागुं —	कुचाग्रं	४६	१९
शहस्त्र —	शक्र ...	५४	१३
परिग्गपाणिवा —	परिग्गाहियाणिवा	६३	८
चेतईयाइं —	चेईयाइँ	६३	९
वां —	वा ...	६१	९
पुज्यते —	युज्यते ...	६३	११

पालनार्थ	—	पालनार्थं	६३	१२
मंधान्तरं	—	संघान्तरं	.... ६३	१३
श्वरकादि	—	श्वरकादि	६३	१४
खरा	—	भला	... ६८	७
यूधिक	—	यूथिक	.... ७०	९
भूमभूलक	—	भ्रममूलक	... ७१	३
वंदइक्ता	—	वंदइत्ता	.... ७१	१२
,, ,,	—	,, ,,	,,	१४
चे आई	—	चेइ आई	७४	३
पन्नसं	—	पन्नत्तं	.... ७५	७
सुद्ध	—	सुद्ध	... ७८	१
एव	—	एवं	... ७८	५
जावकदु	—	जावकट्टु	... ७८	८
नमेसई	—	नमंसई	... ७८	१०
जिणाघरं	—	जिणघरं	... ७८	११
कच्छुघ्त्र	—	कच्छुल्ल	८२	११
कुलदेव का प्रतिमावत लावेगे	×	×	.... ८२	१७
सिज्ज	—	सिज्जं	... ८३	१०
पडिबुद्ध	—	पडिबुद्धं	... ८३	११
मंडिय	—	मंडियं	... ८३	१५
संव्व	—	सव्व	.... ८३	१५
और	—	आया	... ८५	१२
भिक्षूक	—	भिक्षुक	... ८८	१९